वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला का पुष्प नं. 58
ISBN 978-93-80353-20-3

जैन बाल भारती

(भाग-3)

– रचयित्री –
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि
श्री ज्ञानमती माताजी

जम्बूद्वीप रचना रजत जयंती महोत्सव–2010 एवं
शांतिनाथ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा एवं तीर्थंकरत्रय महामस्तकाभिषेक
महोत्सव (11 से 21 फरवरी 2010) के पावन प्रसंग पर प्रकाशित

-प्रकाशक-

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.
फोन नं.- (01233) 280184, 292943
Website : www.jambudweep.org
E-mail : ravindrajain@jambudweep.org

तृतीय संस्करण	वीर नि. सं. 2536	मूल्य
2200 प्रतियाँ	फरवरी 2010	24/-रु.

दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान द्वारा संचालित

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में दिगम्बर जैन आर्षमार्ग का पोषण करने वाले हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, कन्नड़, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के न्याय, सिद्धान्त, अध्यात्म, भूगोल-खगोल, व्याकरण आदि विषयों पर लघु एवं वृहद् ग्रंथों का मूल एवं अनुवाद सहित प्रकाशन होता है। समय-समय पर धार्मिक लोकोपयोगी लघु पुस्तिकाएं भी प्रकाशित होती रहती हैं।

–: संस्थापिका एवं प्रेरणास्रोत :–
परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी

–: मार्गदर्शन :–
प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माताजी

–: निर्देशन :–
धर्मदिवाकर पीठाधीश क्षुल्लकरत्न श्री मोतीसागर जी महाराज

–: सम्पादक :–
कर्मयोगी ब्र. रवीन्द्र कुमार जैन

सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

प्रथम संस्करण-सन् 1982, प्रतियाँ-3300, द्वितीय संस्करण-सन् 1993, प्रतियाँ-2200

कम्पोजिंग - ज्ञानमती नेटवर्क
जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.

सम्पादकीय

–कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन

पं. दौलतराम जी ने छहढाला में बहुत ही सुन्दर बात कही है कि–

ज्ञान समान न आन, जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म-जरा-मृतु रोग निवारण।।

वास्तव में इस संसार में ज्ञान के समान और दूसरा कोई सुख का कारण नहीं है और सबसे अधिक विशेष बात यह है कि अमृत तो मात्र मृत्यु का ही नाश करता है परन्तु यह ज्ञानरूपी अमृत जन्म-बुढ़ापा और मरण इन तीनों का नाश कर देता है इसीलिए ज्ञान की साक्षात् मूर्ति पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने अपनी लेखनी से 1-2 नहीं, अपितु 250 से भी अधिक ग्रंथों की रचना करके अपना ''ज्ञानमती'' नाम सार्थक कर लिया है।

इस ''जैन बाल भारती'' पुस्तक के तृतीय भाग में पूज्य माताजी ने कई कथानकों को प्रश्न-उत्तर के माध्यम से इस प्रकार लेखनीबद्ध किया है कि पढ़ने वाला व्यक्ति प्रत्येक बात को अच्छी तरह समझ सके तथा उसे अपने जीवन में धारण कर सके।

हमें पूज्य माताजी द्वारा रचित प्रत्येक साहित्य को 'वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला'' से प्रकाशित करते हुए बहुत हर्ष एवं गौरव का अनुभव होता है कि हम शास्त्र लिख नहीं सकते, तो कम से कम पूज्य माताजी द्वारा लिखित ग्रंथों को प्रकाशित करके उसे जन-जन तक पहुँचाकर ही कुछ पुण्य का अर्जन कर लेते हैं। कभी-कभी तो लोग आश्चर्य में पड़ जाते हैं कि जिन माताजी ने अष्टसहस्री, नियमसार, समयसार आदि महान ग्रंथों का हिन्दी अनुवाद किया है क्या उन्हीं ज्ञानमती माताजी ने बाल विकास, बाल भारती जैसी छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी हैं? परन्तु चूँकि यह सत्य है इसलिए सभी को इस बात को स्वीकार तो करना ही पड़ता है कि एक ही ज्ञानमती माताजी हैं जिन्होंने बाल-वृद्ध-युवा-नारी-विद्वान् सभी के लिए उपयोगी साहित्य रचना की है।

ऐसी पूज्य माताजी के चरणों में वंदन करते हुए विशेषरूप से बच्चों के लिए मेरी प्रेरणा है कि इस पुस्तक को पढ़कर अपने ज्ञान की क्रमिक वृद्धि करते हुए अपने मानव जीवन को समुन्नत बनाएँ।

प्राक्कथन

–ब्र. कु. सारिका जैन (संघस्थ)

प्रत्येक मनुष्य के जीवन में संस्कारों का अतीव महत्त्व है। बच्चे को सर्वप्रथम अपनी माँ से संस्कार प्राप्त होते हैं पुनः विद्यालय में अध्यापकगण उसे संस्कार प्रदान करते हैं। फिर वही बालक जब धार्मिक अध्ययन की इच्छा करता है, तो सर्वप्रथम उसे छोटी-छोटी कथाएँ सुनाई जाती हैं, सरल शब्दों में उसे जैनधर्म के बारे में बताया जाता है, ऐसे बालकों के लिए ''जैन बाल भारती'' नामक यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी ने बच्चों को प्राथमिक अध्ययन कराने के उद्देश्य से ही इस पुस्तक की रचना 3 भागों में की है। प्रथम और द्वितीय भाग का अध्ययन करने के पश्चात् अब यह तृतीय भाग आपके हाथों में है। इस पुस्तक में कुल 13 लघु आलेख हैं। प्रत्येक आलेख में विषय-वस्तु को प्रश्न-उत्तर के माध्यम से अच्छी तरह समझाया गया है। सर्वप्रथम 'दिव्यध्वनि' नामक पाठ में भगवान महावीर की दिव्यध्वनि कब खिरी? केवलज्ञान होने के बाद 66 दिनों तक दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी?.....आदि शंकाओं का समाधान करने के साथ ही उनके समवसरण का संक्षिप्त वर्णन भी सरल शब्दों में किया गया है।

आज कुछ लोग ऐसे हैं जो पंचमकाल के मुनियों को इसलिए पूज्य नहीं मानते हैं क्योंकि चतुर्थकाल के समान उनमें ऋद्धियाँ आदि नहीं दिखती हैं, ऐसा कहने वाले यह नहीं सोचते हैं कि हम चतुर्थकालीन श्रावक हैं या नहीं? खैर.....इस विषय में पूज्य माताजी ने ''आज मुनि गुप्तिधारी हैं या नहीं'' नामक पाठ में कई प्राचीन उदाहरणों के माध्यम से सटीक स्पष्टीकरण किया है। आपको यह विशेषरूप से जानना है कि पूज्य माताजी जो कुछ भी लिखती हैं, वो सब दिगम्बर जैनागम के अनुसार ही लिखती हैं अतः उनका एक-एक शब्द प्रामाणिक रहता है।

आगे तृतीय पाठ है ''महातीर्थ में स्नान करो'' इसे पढ़कर आनन्द इसलिए आता है क्योंकि इसमें कितनी सरलता से अरिहंत भगवान को तीर्थ की संज्ञा प्रदान करके उनकी वाणीरूपी गंगा में स्नान करके कर्मरूपी मल को धोने की बात कही गई है। वास्तव में यदि गंगा आदि नदियों में स्नान करने से मोक्ष हो जाता तो सर्वप्रथम मगरमच्छ आदि जलचर जीवों को मोक्ष होना चाहिए।

पुनः आहारदान की महिमा बताने हेतु पद्मपुराण ग्रंथ के आधार से ''भगवान रामचन्द्र के आहार के दृश्य'' का रोमांचक वर्णन करते हुए पूज्य माताजी ने लिखा है कि आज भी साधु-साध्वियों के पड़गाहन आदि के कोलाहलपूर्ण दृश्यों को नाटक कहकर कर्मबंध नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान देकर अपने गृहस्थधर्म का शुद्धरीत्या परिपालन करना चाहिए। इस विषय में

आचार्य श्री पद्मनंदि ने ''पद्मनंदिपंचविंशतिका'' ग्रंथ में स्पष्ट लिखा है कि–

गृहस्थ अवस्था में धन-कुटुम्ब आदि से अधिक मोह रहता है इसलिए गृहस्थपना केवल संसार में डुबाने वाला है परन्तु उस गृहस्थपने में यदि दान दिया जावे, तो वह दिया हुआ दान मनुष्य को संसाररूपी समुद्र में नहीं डूबने देता है इसलिए भव्यजीवों को उत्कृष्ट दान देकर अपने गृहस्थाश्रम को अवश्य सफल करना चाहिए।

आगे 'हिंसक यज्ञ की उत्पत्ति' 'सच्ची छाया में विश्राम करो' आदि आलेखों में उन-उन विषयों का सप्रमाण विवेचन किया है पुनः अंतिम आलेख ''आजकल के मुनि उत्तमपात्र हैं या नहीं'' इसमें पात्र के तीन भेद बताते हुए मुनि-आर्यिका को उत्तमपात्र बताया गया है तथा गृहस्थ श्रावकों को यह निर्देश दिया गया है कि–

भुक्तिमात्र प्रदाने तु, का परीक्षा तपस्विनाम्।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा, गृहीदानेन शुद्धयति।।

भोजनमात्र देने में तपस्वियों की क्या परीक्षा करना, वे सन्त हों या न हों, परन्तु गृहस्थ तो दान देने से शुद्ध हो ही जावेगा।

देखिए! शायद हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि हमने इस पंचमकाल में जन्म लिया क्योंकि इस कलिकाल में भी हमें निर्दोष-निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि-आर्यिकाओं के दर्शन करके उन्हें आहारदानादि देने का पुण्य प्राप्त हो रहा है। कल्पना कीजिए कि यदि हमारे बीच में कोई भी दिगम्बर जैन साधु-साध्वी न होते, केवल श्रावक ही श्रावक होते तो हमें दान का पुण्य कैसे प्राप्त होता? हमें भगवान की महिमा से कौन परिचित कराता? हमारे द्वारा श्रावकों के षट् कर्तव्यों का परिपालन कैसे संभव हो पाता? इस विषय में किसी ने सच ही कहा है कि–

जिस प्रकार नमक के बिना भोजन की शोभा नहीं, सुरीले कण्ठ के बिना गीत की शोभा नहीं, शील के बिना नारी की शोभा नहीं, उसी प्रकार सन्त-साधुओं के बिना समाज और श्रावक की शोभा नहीं है। यह तो अच्छा हुआ कि हमने भारत जैसे महान देश में जन्म लिया क्योंकि आज अन्य देशों में भारत की संस्कृति-सभ्यता-सदाचार को ऊँची नजरों से देखा जाता है अतः हमें अपनी भारतीय संस्कृति का हमेशा गौरव करना चाहिए। हमारे देश के गौरव को और भी अधिक वृद्धिंगत करने वाली पूज्य गणिनीप्रमुख श्री ज्ञानमती माताजी हैं, जिन्होंने बच्चों से लेकर बड़े-बड़े विद्वानों तक के लिए छोटे-बड़े सभी प्रकार के लगभग 250 ग्रंथों का लेखन करके अनुपम इतिहास की रचना की है। जिस प्रकार किसी गूँगे व्यक्ति को यदि गुड़ खिला दिया जाये, तो वह उसकी मिठास को शब्दों से व्यक्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार पूज्य माताजी के अगाध ज्ञान को हम 250 ग्रंथों में, उनकी अनुपम कृतियों के रूप में देख तो रहे हैं, परन्तु उसे शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते हैं।

ऐसी ज्ञान की मूर्ति पूज्य गणिनी माताजी द्वारा रचित इस पुस्तक को पढ़कर आप सभी अपने ज्ञान की अतिशायी वृद्धि करें, यही इसकी सार्थकता है।

पुस्तक की रचयित्री, परमपूज्य गणिनीप्रमुख आर्यिकाशिरोमणि श्री ज्ञानमती माताजी का संक्षिप्त-परिचय

–प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका चन्दनामती

जन्मस्थान–टिकैतनगर (बाराबंकी) उ.प्र.

जन्मतिथि–आसोज सुदी 15 (शरदपूर्णिमा) वि. सं. 1991 (22 अक्टूबर, सन् 1934)

गृहस्थ का नाम–कु. मैना

माता-पिता–श्रीमती मोहिनी देवी एवं श्री छोटेलाल जैन

आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत–ई. सन् 1952 में बाराबंकी में शरदपूर्णिमा के दिन आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज से।

क्षुल्लिका दीक्षा–चैत्र कृ. 1, ई. सन् 1953 को महावीरजी अतिशय क्षेत्र (राज.) में।

आर्यिका दीक्षा–वैशाख कृ. 2, ई. सन् 1956 को माधोराजपुरा (राज.) में चारित्रचक्रवर्ती 108 आचार्य श्री शांतिसागर जी की परम्परा के प्रथम पट्टाधीश आचार्य श्री वीरसागर जी महाराज के करकमलों से।

साहित्यिक कृतित्व–अष्टसहस्री, समयसार, नियमसार, मूलाचार, कातंत्र-व्याकरण, षट्खण्डागम आदि ग्रंथों के अनुवाद/टीकाएं एवं 250 विशिष्ट ग्रंथों की लेखिका। सन् 1995 में अवध वि.वि. (फैजाबाद) द्वारा ''डी.लिट्.'' की मानद उपाधि से विभूषित।

तीर्थ निर्माण प्रेरणा–हस्तिनापुर में जंबूद्वीप तीर्थ का निर्माण, शाश्वत तीर्थ अयोध्या का विकास एवं जीर्णोद्धार, प्रयाग-इलाहाबाद (उ.प्र.) में तीर्थंकर ऋषभदेव तपस्थली तीर्थ का निर्माण, तीर्थंकर जन्मभूमियों का विकास यथा– भगवान महावीर जन्मभूमि कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार) में 'नंद्यावर्त महल' नामक तीर्थ निर्माण, भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकन्दी तीर्थ (निकट गोरखपुर-उ.प्र.) का विकास, भगवान पार्श्वनाथ केवलज्ञानभूमि अहिच्छत्र तीर्थ पर तीस चौबीसी मंदिर, हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप स्थल पर भगवान शांतिनाथ-कुंथुनाथ-अरहनाथ की 31 फुट उत्तुंग खड्गासन प्रतिमा निर्माण की प्रेरणा, मांगीतुंगी में निर्माणाधीन 108 फुट उत्तुंग भगवान ऋषभदेव की विशाल प्रतिमा इत्यादि।

महोत्सव प्रेरणा–पंचवर्षीय जम्बूद्वीप महामहोत्सव, भगवान ऋषभदेव अंतर्राष्ट्रीय निर्वाण महामहोत्सव, अयोध्या में भगवान ऋषभदेव महाकुंभ मस्तकाभिषेक, कुण्डलपुर महोत्सव, भगवान पार्श्वनाथ जन्मकल्याणक तृतीय सहस्राब्दि महोत्सव, दिल्ली में कल्पद्रुम महामण्डल विधान का ऐतिहासिक आयोजन इत्यादि। **विशेषरूप से 21 दिसम्बर 2008 को जम्बूद्वीप स्थल पर विश्वशांति अहिंसा सम्मेलन का आयोजन हुआ, जिसका उद्घाटन भारत की राष्ट्रपति श्रीमती प्रतिभा देवीसिंह पाटील द्वारा किया गया।**

शैक्षणिक प्रेरणा–'जैन गणित और त्रिलोक विज्ञान' पर अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी, राष्ट्रीय कुलपति सम्मेलन, इतिहासकार सम्मेलन, न्यायाधीश सम्मेलन एवं अन्य अनेक राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर के सेमिनार आदि।

रथ प्रवर्तन प्रेरणा–जम्बूद्वीप ज्ञानज्योति (1982 से 1985), समवसरण श्रीविहार (1998 से 2002), महावीर ज्योति (2003-2004) का भारत भ्रमण।

इस प्रकार नित्य नूतन भावनाओं की जननी पूज्य माताजी चिरकाल तक इस वसुधा को सुशोभित करती रहें, यही मंगल कामना है।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के शिरोमणि संरक्षक

1. श्रीमती निर्मला जैन ध.प. स्व. श्री प्रेमचन्द्र जैन, तत्पुत्र प्रदीप कुमार जैन, खी बावली, दिल्ली-6।
2. श्रीमती सुमन जैन ध.प. श्री दिग्विजय सिंह जैन, इंदौर।
3. श्री महावीर प्रसाद जैन संघपति, जी-19, साऊथ एक्सटेन्शन, नई दिल्ली।
4. श्री महेन्द्र पाल हरेन्द्र कुमार जैन, सूरजमल विहार, दिल्ली।
5. श्रीमती मोहनी जैन ध.प. श्री सुनील जैन, प्रीत विहार, दिल्ली।
6. श्री देवेन्द्र कुमार जैन (धारूहेड़ा वाले) गुड़गाँव (हरि.)।
7. श्रीमती शारदा रानी जैन ध.प. स्व. रिखबचंद जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
8. डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन, भोपाल (म.प्र.)
9. श्रीमती संगीता जैन ध.प. श्री संजीव कुमार जैन, शेरकोट (बिजनौर) उ.प्र.
10. श्री अनिल कुमार जैन, दरियागंज, दिल्ली
11. श्री बी.डी. मदनाइक, मुम्बई
12. श्री धनकुमार जैन, बाहुबली एन्क्लेव, दिल्ली-92।
13. श्री जितेन्द्र कुमार जैन एवं श्रीमती सुनीता जैन कोटड़िया, फ्लोरिडा, यू.एस.ए.
14. श्रीमती विमला देवी जैन ध.प. श्री ओमप्रकाश जैन, स्वालिक नगर, हरिद्वार (उत्तराखंड)।
15. श्री अमित जैन एवं संभव जैन सुपुत्र श्रीमती अनीता जैन ध.प. श्री मूलचंद जैन पाटनी, दिसपुर (कामरूप) आसाम।
16. श्रीमती अजित कुमारी जैन ध.प. श्री महेन्द्र कुमार जैन, ओबेदुल्लागंज (रायसेन) म.प्र.।
17. श्री नाभिकुमार जैन, जैन बुक डिपो, सी-4, पी.वी.आर. प्लाजा के पीछे, कॉर्ट प्लेस, नई दिल्ली।

वीर ज्ञानोदय ग्रन्थमाला के परम संरक्षक

1. श्री माँगीलाल बाबूलाल पहाड़े, हैदराबाद (आन्ध्र प्रदेश)।
2. डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, 792 विवेकानंदपुरी, सिविल लाइन, सीतापुर (उ.प्र.)।
3. श्री सुमत प्रकाश जैन, गज्जू कटरा, शाहदरा, दिल्ली।
4. श्री सुनील कुमार जैन, द्वारा-सुनील टैक्सटाईल्स, सरधना (मेरठ) उ.प्र.।
5. श्री प्रकाश चंद अमोलक चंद जैन सर्राफ, सनावद (म.प्र.)।
6. श्री प्रद्युम्न कुमार जवेरी, रोकड़ियालेन, बोरीवली (वेस्ट) मुंबई।
7. श्रीमती उर्मिला देवी ध.प. श्री कान्ती प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
8. श्रीमती उषा जैन ध.प. श्री विमल प्रसाद जैन, ऋषभ विहार, दिल्ली।
9. श्री आनन्द प्रकाश जैन (सौरम वाले) , गांधीनगर, दिल्ली।
10. श्रीमती सरिता जैन ध.प. श्री राजकुमार जैन, किदवई नगर, कानपुर।
11. स्व. श्रीमती कैलाशवती ध.प. श्री कैलाश चन्द्र जैन , तोपखाना बाजार, मेरठ।
12. श्री भानेन्द्र कुमार जैन, द्वारा-श्री विद्या जैन, भगत सिंह मार्ग, जयपुर।
13. श्री प्रदीप कुमार शान्तिलाल बिलाला, अनूपनगर, इंदौर, (म.प्र.)।
14. श्री सुरेशचंद पवन कुमार जैन, बाराबंकी (उ.प्र.)।
15. श्री नथमल पारसमल जैन, कलकत्ता-7।
16. श्रीमती स्व. शांताबाई ध.प. श्री कमलचंद जैन, सनावद (म.प्र.)।
17. श्री रूपचंद जैन कटारिया, दिल्ली
18. श्री आशु जैन, कालका जी, नई दिल्ली

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ सं.
1. दिव्यध्वनि	1
2. आज मुनि गुप्तिधारी हैं या नहीं?	6
3. तिरस्कार का फल तिरस्कार	13
4. महातीर्थ में स्नान करो	18
5. भगवान रामचन्द्र के आहार का दृश्य	22
6. हिंसक यज्ञ की उत्पत्ति	26
7. सच्ची छाया में विश्राम करो	34
8. कुल सर्वश्रेष्ठ है	38
9. ऐतिहासिक महामुनि	42
10. क्या रावण अहिंसक था?	47
11. समवसरण का विवेचन	52
12. उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य क्या है?	57
13. आजकल के मुनि आहार के पात्र हैं या नहीं?	59
14. चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों की नामावली	63

दिव्यध्वनि

कमल–हे गुरूजी! भगवान महावीर की दिव्यध्वनि कब खिरी थी?

अध्यापक–वैसाख सुदी दशमी को भगवान महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। उसी समय देवों ने आकर भगवान के समवसरण की रचना की थी किन्तु भगवान मौन ही रहे। बहुत दिनों तक भगवान का विहार भी हुआ। कदाचित् विहार करते-करते देवाधिदेव राजगृह नगर के विपुलाचल पर्वत पर आये। उस समय अकस्मात् इन्द्र ने अवधिज्ञान से विचार किया कि प्रभु की वाणी न खिरने का कारण गणधर का न होना है। फिर उसने उपाय सोचा और तत्क्षण ही एक ब्राह्मण का वेष रखकर गौतम-गोत्रीय इन्द्रभूति ब्राह्मण के आश्रम में पहुँचा। वहाँ उनके गुरू के पास जाकर बोला कि–"यहाँ मेरे प्रश्न का उत्तर देने में सामर्थ्यवान कोई व्यक्ति है क्या? मेरे गुरू इस समय मौन हैं।"

उत्तर में इन्द्रभूति गुरू ने कहा कि–"तुम्हारे प्रश्न का उत्तर मैं दूँगा। कहो! तुम मुझे क्या दोगे?" ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने कहा कि–"हे विप्र! यदि आप मेरे प्रश्न का उत्तर दे देंगे तो मैं सबके समक्ष आपका शिष्य बन जाऊँगा और यदि आप उत्तर नहीं दे सके तो क्या करोगे?"

इन्द्रभूति ने कहा कि–"तब मैं अपने दोनों भाईयों और सभी शिष्यों

सहित आपके गुरू का शिष्य बन जाऊँगा।"

बस, इस प्रतिज्ञा के होते ही उस ब्राह्मण ने एक श्लोक[1] सामने रख दिया–

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं सकलगतिगणाः सत्पदार्था नवैव
विश्वं पंचास्तिकाया व्रतसमितिचिदः सप्ततत्त्वानि धर्माः।
सिद्धेर्मार्गः स्वरूपं विधिजनितफलं जीवषट्कायलेश्या।
एतान् यः श्रद्धाति जिनवचनरतो मुक्तिगामी स भव्यः।।

इस काव्य को सुनते ही इन्द्रभूति ब्राह्मण ऊहापोह में पड़ गया कि आखिर तीन काल कौन से हैं, प्रातः, मध्याह्न और सायं? अथवा भूत, भविष्यत्, वर्तमान, इत्यादि रूप से विचार करते हुए उसने कहा कि तुम्हारे साथ वाद करने में क्या? चलो, तुम्हारे गुरू वर्द्धमान से ही हम वाद करेंगे। इस प्रकार गर्व से गर्विष्ठ हुआ वह ब्राह्मण अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ उस वटुक विद्यार्थी के साथ चल पड़ा।

कमल–गुरूजी! वे मिथ्यादृष्टि साधु समवसरण में कैसे गये होंगे?

अध्यापक–सुनो तो, मैं आगे उसी का स्पष्टीकरण कर रहा हूँ।

जिस समय वे इन्द्रभूति गौतम समवसरण के निकट पहुँचे तो दूर से ही मानस्तम्भ को देखते ही उनका मान गलित हो गया। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि जिस गुरू की विश्व को विस्मय में डालने वाली ऐसी विभूति है, भला उसे कौन जीत सकता है? इसके बाद वे अन्दर गये, देवाधिदेव श्री महावीर प्रभु के दर्शन करते हुए भक्ति से रोमांचित हो गये। उन इन्द्रभूति गौतम के मुख से गद्गद वाणी में यह स्तोत्र के शब्द निकल पड़े–

'जयति भगवान् हेमाम्भोजप्रचारविजृंभिता-
वमरमुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुंबितौ।।
कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ता परस्परवैरिणः।
विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विशश्वसुः।।1।।[2]

हे भगवन्! आपकी जय हो, जय हो, आपके दोनों चरण कमल देवों द्वारा निर्मित स्वर्णकमलों पर विहार करते हैं, देवों के मुकुटों की निकलती हुई कांति

1. 'महावीर चरित्र' सकलकीर्ति आचार्य वि. 3-2। 2. चैत्यभक्ति यह गौतम स्वामी रचित है। साधुजन प्रतिदिन तीनों काल सामायिक में इस भक्ति का पाठ करते हैं।

से आपके चरण युगल स्पर्शित हैं। कलुषित बुद्धि वाले, परस्पर बैरी, मान कषाय से उद्भ्रान्त ऐसे प्राणीगण आपके चरणों का आश्रय लेकर कलुषता से रहित होते हुए विश्वास को प्राप्त हो गये हैं।

इत्यादि रूप श्लोकों से भगवान की स्तुति करके वैराग्यमना हुए वे गौतम अपने पाँच सौ शिष्यों सहित प्रभु के पादमूल में जैनेश्वरी दीक्षा से दीक्षित होगये। उनके दोनों भाई वायुभूति और अग्निभूति भी अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त के बाद मनःपर्ययज्ञान एवं बुद्धि, क्रिया, तप, रस, औषधि, बल और अक्षीण–इन सात ऋद्धियों से विभूषित हो गये।

इसके पश्चात् वीर प्रभु की दिव्यध्वनि खिरने लगी। वह दिन श्रावण कृष्ण प्रतिपदा का था। इसे आज भी लोग वीरशासनजयंती के नाम से मनाते हैं। अनन्तर भट्टारक श्री वर्धमान स्वामी के उपदेश से उसी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन प्रातःकाल में गौतम स्वामी ने सब अंगों के अर्थ और पद को स्पष्ट जान लिया और वे प्रथम गणधर कहलाये। उसी दिन रात्रि के पूर्वभाग में अंगों की ग्रंथरूप से रचना की और रात्रि के पिछले भाग में पूर्वरूप ग्रन्थों की रचना की। इस तरह भगवान महावीर अर्थकर्ता और गौतम गणधर ग्रंथकर्ता प्रसिद्ध हुये।

कमल–वीर प्रभु की दिव्यध्वनि कितने दिन तक नहीं खिरी थी?

अध्यापक–छ्यासठ दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरी थी पुनः गणधरदेव के निमित्त से दिव्यध्वनि खिरी थी।

प्रश्न यह हुआ कि दिव्यध्वनि इतने दिनों तक क्यों नहीं खिरी? तब उत्तर दिया गया है कि गणधर का अभाव होने से दिव्यध्वनि नहीं खिरी।

प्रश्न–सौधर्मेन्द्र ने केवलज्ञान के प्राप्त होते ही गणधर को क्यों नहीं उपस्थित किया?

उत्तर–काल लब्धि के बिना इन्द्र गौतम को उपस्थित करने में असमर्थ थे।

प्रश्न–जिसने उन्हीं तीर्थंकर के पादमूल में महाव्रत ग्रहण किया है, ऐसे पुरुष को छोड़कर अन्य के निमित्त से दिव्यध्वनि क्यों नहीं खिरी?

उत्तर–ऐसा ही स्वभाव है, और स्वभाव दूसरों द्वारा तर्क करने योग्य नहीं होता है, क्योंकि यदि स्वभाव में तर्क होने लगे तो कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी।[1]

1. जयधवला टीका, भाग 1, पृ. 76।

जयधवला में यह भी बताया गया है कि गणधर का बल सर्वार्थसिद्धि में निवास करने वाले देवों से भी अनन्तगुणा है। इस शारीरिक बल के सिवाय उनका मनोबल, वचनबल भी अचिन्त्य था। वे एक मुहूर्त में द्वादशांग का चिंतवन करने में समर्थ थे और एक मुहूर्त में ही सम्पूर्ण द्वादशांग का पाठ करने में भी समर्थ थे।

कमल–गुरूजी! कोई-कोई कहते हैं कि भगवान ने लोक-अलोक का, धर्म-अधर्म द्रव्यों का, श्रावकों की पूजा और दानादि-क्रियाओं का वर्णन नहीं किया है, यह तो आधुनिक आचार्यों ने कहा है।

अध्यापक–नहीं, ऐसी बात नहीं है। देखो! द्वादशांग में लोकालोक, धर्म-अधर्म आदि अरूपी द्रव्य, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, औषधि, अष्टांगनिमित्त, श्रावकों की दान, पूजन आदि क्रियायें सभी वर्णित हैं। उपासकाध्ययन नाम के सातवें अंग से श्रावकों की दान-पूजन आदि क्रियायें निकली हैं। पहले बताया है कि द्वादशांग के अर्थकर्ता श्री वीर प्रभु हैं और ग्रन्थकर्ता श्रीगणधर देव हैं तथा परम्परा से ग्रन्थकर्ता आधुनिक आचार्य हैं, अभी तक आर्ष परम्परा, मुनि परम्परा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। इसलिये ये सभी आचार्य प्रणीत ग्रन्थ पूर्ण प्रामाणिक हैं। षट्खण्डागम सूत्र की धवला टीका में भी जगह-जगह इसी बात को कहा है। यथा–'जिनका अर्थरूप से तीर्थंकरों ने प्रतिपादन किया है और गणधर देव ने जिनकी ग्रंथ रचना की है ऐसे बारह अंग आचार्य परम्परा से निरन्तर चले आ रहे हैं।'[1]

ऐसा समझकर आचार्यों के वचनों में अश्रद्धा नहीं करना चाहिये।

कमल–वीर प्रभु के समवसरण में कितने मुनिगण थे?

अध्यापक–'भगवान के समवसरण में ग्यारह गणधर थे। उनके नाम–इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, शुचिदत्त, सुधर्म, मौन्द्रय, मौर्यपुत्र, अकंपन, अचल, मैदार्य और अन्तिम प्रभास गणधर थे। ये सभी गणधर सात प्रकार की ऋद्धियों से सहित थे।'[2]

इनमें से प्रारम्भ के पाँच गणधरों की गण संख्या (शिष्यगण) (प्रत्येक की) दो हजार एक सौ तीस, उसके आगे छठवें और सातवें गणधर की गण संख्या, प्रत्येक की चार सौ पच्चीस, तदनन्तर शेष गणधरों की गण संख्या

1. धवला प्र. पु., पृ. 212.
2. हरिवंश पुराण टीका, पृ. 27.

प्रत्येक की छह सौ पच्चीस। इस प्रकार ग्यारह गणधरों की शिष्य संख्या चौदह हजार थी। इन चौदह हजार शिष्यों में से तीन सौ पूर्व के धारी, नौ सौ विक्रिया ऋद्धि के धारी, तेरह सौ अवधिज्ञानी, सात सौ केवलज्ञानी, पाँच सौ विपुलमति मनःपर्ययज्ञानी, चार सौ परवादियों को जीतने वाले वादी और नौ हजार नौ सौ शिक्षक थे। इस प्रकार वीर प्रभु के समवसरण में ग्यारह गणधरों से सहित चौदह हजार मुनियों का संघ, पैंतीस हजार आर्यिकायें, एक लाख श्रावक, तीन लाख श्राविकायें, चारों प्रकार के असंख्यात देव-देवियाँ तथा संख्यात तिर्यंच थे। ये सब बारह कोठों में बैठकर धर्म श्रवण करते थे। यद्यपि आज हम लोगों को साक्षात् भगवान की दिव्यध्वनि का लाभ नहीं मिल रहा है, फिर भी आचार्य प्रणीत ग्रन्थ आज भी उसी दिव्यध्वनि के अंश का अनुभव करा रहे हैं। इसलिये कमल! तुम भी जैनशास्त्रों का नित्यप्रति स्वाध्याय किया करो।

कमल—अच्छा गुरूजी! अब मैं जैन ग्रंथों का खूब स्वाध्याय करूँगा।

णमोकार मंत्र स्तवन

–शिखरिणी छंद–

णमो अरिहंताणं, नमन है अरिहंत प्रभु को।
णमो सिद्धाणं में, नमन कर लूँ सिद्ध प्रभु को।।
णमो आइरियाणं, नमन है आचार्य गुरु को।
णमो उवज्झायाणं, नमन है उपाध्याय गुरु को।।।1।।

णमो लोए सव्वसाहूणं पद बताता।
नमन जग के सब साधुओं को करूँ जो हैं त्राता।।
परमपद में स्थित कहें पाँच परमेष्ठि इनको।
नमन इनको करके लहूँ इक दिन मुक्ति पद को।।2।।

सभी के पापों को शमन करता मंत्र यह ही।
तभी सब मंगल में प्रथम माना मंत्र यह ही।।
जपें जो भी इसको वचन मन कर शुद्ध प्रणति।
लहें वे इच्छित फल, हृदय नत हो चन्दनामति।।3।।

—आर्यिका चंदनामती

आज मुनि गुप्तिधारी हैं या नहीं?

अजय—भाई विजय! आज आप कहाँ गये थे?

विजय—मैं आचार्य संघ के दर्शन करने गया था। वहाँ उपदेश हो रहा था। मैं वहीं बैठकर सुनने लगा।

अजय—भाई! वह उपदेश मुझे भी सुना दो।

विजय—हाँ, सुनो! मुनिराज ने गुप्ति के बारे में समझाते हुए एक ऐतिहासिक घटना सुनाई। एक समय राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ मुनिराज मणिमाली को नमस्कार कर भक्तिपूर्वक उनके चरण-सान्निध्य में बैठ गये। पुनः राजा श्रेणिक ने विनय से पूछा–"हे संसारतारक स्वामिन्! मेरे शुभोदय से आप राजमन्दिर में आहारार्थ आये, किन्तु बिना कारण आप वापस क्यों आ गये? सो कृपा करके मेरे संशय का निवारण कीजिये।"

राजा के वचन सुनकर मुनिराज ने कहा–"राजन्! रानी चेलना ने 'हे त्रिगुप्तिपालक मुनिराज! आप आहारार्थ राजमन्दिर में तिष्ठें'–इस रीति से मेरा आह्वान किया था। मेरे दो गुप्ति तो थीं किन्तु कायगुप्ति नहीं थी, इसलिये मैं वहाँ आहार के लिए नहीं ठहरा। वह क्यों नहीं है? इसका कारण सुनो– इस पृथ्वीतल पर मणिवत नाम का देश है। उस देश के अन्तर्गत दारानगर का स्वामी मणिमाली राजा था। एक समय श्वेत केश को देखकर विरक्त होकर राजा ने गुणसागर मुनि के समीप जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और गुरू से जैन सिद्धान्त का विशेष ज्ञान प्राप्त करके उग्र तपस्वी बन गया। तब सिंह के समान इस पृथ्वीमण्डल पर अकेला ही विहार करने लगा–सो वह मैं ही हूँ।

राजन्! एक दिन मैं उज्जयिनी नगरी की श्मशान भूमि में मुर्दे के समान आसन बाँधकर ध्यान में स्थिर हो गया। रात्रि में एक मन्त्रवादी वैताली विद्या की सिद्धि के लिये वहाँ आया और मेरे शरीर को मृत शरीर जान तत्काल उसने मेरे मस्तक पर एक चूल्हा रख दिया एवं किसी मृतक के कपाल में दूध और चावल डालकर चूल्हे में अग्नि जलाकर वह खीर पकाने लगा। बस फिर क्या था? मंत्रवादी तो जल्दी-जल्दी चूल्हे में लकड़ी झोंकने लगा। अग्नि के जलने से मेरे मस्तक और मुख में तीव्र वेदना होने लगी। उस समय मैं शुद्ध आत्मतत्त्व का चिंतवन करने लगा पुनः नरक-निगोदों के दुःखों का चिंतवन कर अपनी

आत्मा को उपसर्ग के सहन करने में सबल बनाता रहा। उस समय मुझे अपने तन-बदन का भी होशो-हवास नहीं था किन्तु अचानक ही जब अग्नि जोर से जलने लगी तो मेरे मस्तक पर रखा हुआ कपाल हिलने लगा और अच्छी तरह उस मंत्रवादी-कौलिक द्वारा थामे जाने पर भी तत्काल जमीन पर गिर गया। जो कुछ उसमें दूध-चावल आदि चीजें थीं, वह मिट्टी में मिल गयीं और शीघ्र ही अग्नि शान्त हो गयी।

जब मंत्रवादी ने यह दृश्य देखा तो मारे भय के उसके पेट में पानी हो गया। उसने समझा कि मन्त्र मुझ पर कुपित हो गया है। वह वहाँ से तत्काल भाग गया।

उस श्मशान भूमि के पास एक बगीचा था। प्रातःकाल एक माली वहाँ फूल तोड़ने के लिए आया। अचानक उसकी दृष्टि मुझ पर पड़ी। वह शीघ्र ही भाग कर नगर में गया और जिनदत्त आदि धर्मात्मा पुरुषों को मुनि उपसर्ग का हाल कह सुनाया। ज्योंहि जिनदत्त सेठ ने समाचार सुना, वे दुःख से घबराये हुए दौड़े आये। उस समय मैं बेहोश पड़ा हुआ था। सेठ ने मेरी यह दशा देखकर बहुत ही दुःख माना और भक्तिपूर्वक नमस्कार करके मुझे शीघ्र उठाया और व्याधि दूर करने हेतु अपने घर ले आया। तत्काल वैद्य ने कहा–जिनदत्त! मुनिराज का मस्तक अत्यन्त जल चुका है। जब तक लाक्षामूल तेल न मिलेगा, मैं कदापि इनकी चिकित्सा नहीं कर सकता। जिनदत्त ने पूछा–वैद्यराज! वह तेल कहाँ मिलेगा, बताओ हम प्रयत्न करेंगे? वैद्य ने बताया–इसी नगरी में भट्टसोमशर्मा ब्राह्मण के यहाँ मिल सकता है। वह जिनदत्त शीघ्र ही वहाँ पहुँचा। वहाँ ब्राह्मण की भार्या तुंकारी थी, उससे सेठ ने मुनि की स्थिति कहकर तेल माँगा और कहा कि बहन! तुम जितना भी मूल्य चाहो, मैं देने को तैयार हूँ।

तुंकारी ने कहा कि–मुनि की औषधि के लिये तुम्हें जितना तेल चाहिये ले जाओ, मुझे कीमत नहीं लेना है। सेठ ने एक घड़ा उठाया और चलने लगा कि अचानक उसके कंधे से गिरकर घड़ा फूट गया। पुनः तुंकारी ने शान्त भाव से अन्य घड़ा ले जाने को कहा, वह भी सेठ से फूट गया। अनन्तर तीसरा घड़ा भी फूट गया। फिर भी तुंकारी शान्त रही और सेठ को चौथा घड़ा दिया।

वह क्यों शान्त रही? इसकी घटना पुनः कभी सुनायेंगे। हाँ तो, इस

लाक्षामूल तेल के प्रयोग से तथा अन्य-अन्य औषधियों के प्रयोग से जिनदत्त मेरी परिचर्या करने लगा। कुछ दिन बाद मेरे रोग की शान्ति हो गई। मुझे निरोग देखकर जिनदत्त को परम सन्तोष हुआ। मेरी निरोगता की खुशी में जिनदत्त आदि सेठों ने अति उत्सव मनाया। जहाँ-तहाँ जिनमन्दिरों में विधान होने लगे एवं कानों को अत्यन्त प्रिय उत्तमोत्तम बाजे भी बजने लगे।

अजय–इससे तो यह स्पष्ट होता है कि कदाचित् मुनिराज के आहारदान की खुशी में कोई श्रावक बाजे बजवाते हैं, उत्सव मनाते हैं तथा मुनियों के ग्राम या शहर में प्रवेश करते समय श्रावक खुशी में बाजे बजवाते हैं तो कोई दोष नहीं है।

विजय–हाँ, भाई! कोई दोष नहीं है बल्कि इससे श्रावकों का धर्म प्रेम प्रगट होता है और लोक में भी धर्म प्रभावना ही होती है।

अजय–पुनः क्या हुआ?

विजय–पुनः वे मुनिराज राजा श्रेणिक से कहने लगे–राजन्! इधर तो मैं स्वस्थ हुआ और उधर वर्षाकाल भी आ गया। उस समय जिनदत्त आदि श्रावकों ने चातुर्मास के लिये मुझे उस नगर में ही रहने के लिए आग्रह किया, इसलिये मैंने वहीं चातुर्मास स्थापित कर लिया। धर्म ध्यान में दत्तचित्त, जीवों को उत्तम मार्ग का उपदेश देता हुआ मैं सुखपूर्वक जिनदत्त के घर में ही रहता था।

सेठ जिनदत्त का पुत्र दुर्व्यसनी था। उसका नाम कुबेरदत्त था। कदाचित् जिनदत्त सेठ ने एक ताँबे के घड़े को रत्नों से भरकर पुत्र से छिपाकर और मेरे सिंहासन के नीचे एक गहरा गड्ढा खोदकर उसमें चुपचाप रख दिया किन्तु घड़ा रखते समय कुबेरदत्त मेरे सिंहासन के पीछे छिपा था इसलिये उसने यह सब दृश्य देख लिया और कुछ दिन बाद वहाँ से उस घड़े को निकाल कर ले गया।

जब चातुर्मास समाप्त हो गया, तब मैं भी वर्षायोग समाप्त कर वहाँ से विहार कर गया। मेरे चले जाने के बाद सेठ जिनदत्त ने एक दिन वहाँ जाकर रत्न के घड़े के स्थान को खोदा। जब उसे घड़ा नहीं मिला तब वह नाना प्रकार के संकल्प-विकल्प करने लगा। उसे मुझ पर भी आशंका हो गई। फिर क्या था, उसने शीघ्र ही कुछ नौकर मेरे अन्वेषण के लिये भेजे। मैं किसी पर्वत कीतलहटी में ध्यानारूढ़ था। जिनदत्त वहाँ आकर नमस्कार आदि करके बोला–"प्रभो! उज्जयिनी की जनता आपके विहार से बहुत दुःख मान रही है और अहोरात्र आपके

दर्शनों के लिये लालायित है अतः पुनः आप एक बार वहाँ पधारें।"

उस समय जिनदत्त की बातों को सुनकर तथा उसके अभिप्राय का अनुमान लगाकर मैं सोचने लगा। अहो! यह धन महानिकृष्ट वस्तु है। इसके लिये मनुष्य क्या नहीं कर सकता। देखो! इस महान धर्मनिष्ठ सेठ की बुद्धि भी कैसी भ्रमित हो गई है। अस्तु, पुनः वह सेठ मुझे अपने घर ले गया एवं विनयपूर्वक बोला–"नाथ! मुझे कोई कथा सुनाइये।" तब मैंने कहा–"जिनदत्त! आज तुम्हीं कोई कथा सुनाओ।" बस फिर क्या था? वह तो कथा द्वारा अपना भीतरी अभिप्राय बतलाना चाहता ही था। इसलिये उसने एक कथा कही, जिसका अभिप्राय यह था कि क्या अपने उपकारी का अपकार करना चाहिये? पुनः उत्तर में मैंने भी एक कथा कही, जिसका अभिप्राय यह था कि कभी-कभी बिना सोचे-समझे किसी पर गलत आशंका कर बैठने से अनर्थ हो जाता है। इस प्रकार से बहुत देर तक हम दोनों की आपस में कथायें चलती रहीं और हम दोनों कथाओं के माध्यम से अपने-अपने अभिप्राय को प्रगट करते रहे।

इन कथाओं के दौरान में सेठ का पुत्र कुबेरदत्त वहीं पर बैठा-बैठा सब सुन रहा था। वह हम दोनों के इस प्रकार के आश्चर्यमयी कथा प्रसंगों के बीच में उठकर गया और शीघ्र ही रत्नों से भरा हुआ घड़ा लाकर पिता के सामने रख दिया और विनयपूर्वक मुझसे बोला–"भगवन्! मेरे पिता ने बहुत बड़ा अनर्थ कर डाला है जो आप जैसे महातपस्वी पर भी संदिग्ध हो गये हैं। हाय! हाय! इस धन को सहस्र बार धिक्कार हो कि जिसके लोभ में पड़कर पिता ने आपको भी चोर बना दिया। दीनबन्धो! अब आप मुझे शीघ्र ही संसार-समुद्र से पार होने वाली जैनेश्वरी दीक्षा दीजिये। इस धन और कुटुम्ब से अब मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं है।"

उस समय जिनदत्त के मन पर क्या बीती, सो क्या कहा जाए? वह भी पश्चात्ताप के भार से अत्यन्त पीड़ित होता हुआ उसी समय उन्हीं मुनि से दीक्षा की प्रार्थना करने लगा। मैंने उन पिता-पुत्र दोनों को दीक्षा देकर वहाँ से विहार कर दिया।

हे श्रेणिक! इसी निमित्त से मुझे कायगुप्ति नहीं होने से ही मैं आपके यहाँ से बिना आहार लिये वापस आ गया हूँ।

विनीत मगधेश! यह आप निश्चय समझें कि जो मुनि मनोगुप्ति, वचनगुप्ति

और कायगुप्ति के पालक होते हैं वे नियम से अवधिज्ञान के धारक होते हैं। तीनों गुप्तियों में एक भी गुप्ति को न रखने वाले मुनिराज के अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान इन तीनों ज्ञानों में से एक भी ज्ञान नहीं होता है। साधारण जीवों के समान उन मुनियों को मति और श्रुत ये दो ही ज्ञान होते हैं।

अजय! इसी कथा को सुनाकर मुनिराज ने बतलाया कि आजकल के मुनियों में ये गुप्तियाँ नहीं होती हैं।

अजय–पुनः वे मुनि कैसे रहे?

विजय–ऐसी बात नहीं है क्योंकि गुप्तियाँ उत्तर गुण हैं, मूलगुण नहीं हैं। आजकल के मुनि मूलगुणों को निरतिचार पालन कर सकते हैं किन्तु कदाचित् कोई मुनि उत्तरगुणों में से तपश्चरण आदि को करते भी हैं। मूलगुण अट्ठाईस होते हैं। पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निरोध, केशलोच, छह आवश्यक क्रिया, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन अदंतधावन, स्थिति भोजन और एकभक्त ये 5 + 5 + 5 + 1 + 6 + 1 + 1 + 1 + 1 + 1 + 1 = 28 मूलगुण कहलाते हैं। मुनियों में इनका होना जरूरी ही है।

अजय–इस कथा को सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है कि ये महामुनि गृहस्थ के घर में चातुर्मास भर कैसे रहे? और यदि रहे तो मुनि कैसे कहलाये? इनको तो मैं मुनि मानने को तैयार ही नहीं हूँ। यदि साधु मन्दिर या धर्मशालाओं में भी रहते हैं तो हम उन्हें शिथिलाचारी मानते हैं, वे सदोष चर्या वाले हैं। निर्दोष साधु तो वे ही हैं जो वन में या पर्वतों पर विचरण करते हैं।

विजय–अजय! सहसा तुम्हें ऐसे शब्द नहीं बोलना चाहिये। देखो! तुम्हें गुरू की आसादना का कर्मबन्ध हो गया। अहो! यह घटना भगवान महावीर के समय की है। वे चतुर्थकालीन दो गुप्ति धारक महातपस्वी थे। उनके प्रति ऐसे शब्द कहकर तुमने बिना कारण ही दर्शन मोहनीय का आस्रव कर लिया।

मुनिसुव्रत भगवान के तीर्थकाल में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के समय भी 'द्युति' नाम के भट्टारक महान आचार्य ने अपने संघ सहित मुनिसुव्रतनाथ के मन्दिर में चातुर्मास किया था। यह कथा पद्मपुराण में स्पष्ट है। उस समय श्रीमन्यु, सुरमन्यु आदि सात ऋषि अयोध्या में अर्हद्दास के यहाँ आहार लेकर उस मन्दिर में पधारे थे और द्युति आचार्य ने उनकी वन्दना की थी। इस कथानक से स्पष्ट है कि चतुर्थकाल में भी मुनि मन्दिरों में रहते थे।

आराधना कथाकोष में एक कथा स्पष्ट है कि एक घट नामक ग्राम में

देविल नामक कुंभार और धर्मिल नाम के नाई दोनों ने मिलकर पथिक लोगों के लिये एक धर्मशाला बनवाई। एक बार देविल ने एक मुनिराज को लाकर वहाँ ठहरा दिया। तब धर्मिल को मालूम होते ही उसने मुनि को वहाँ से निकाल दिया और एक सन्यासी को लाकर उसमें ठहरा दिया। मुनिराज बाहर रात्रि में एक वृक्ष के नीचे ध्यान में खड़े रहे और डास मच्छरों के उपसर्ग सहते रहे।

इससे यह समझना चाहिये कि मुनिराज चतुर्थ काल में भी धर्मशाला आदि वसतिकाओं में ठहराये जाते थे।

इसके अतिरिक्त मूलाराधना, मूलाचार आदि ग्रन्थों में भी साधुओं को वसतिका में रहने का विधान है। जिनके प्रमाण फिर कभी तुम्हें दिखायेंगे। अभी तुम्हें हम साधु के जिनकल्पी और स्थविरकल्पी ये दो भेद बतलाते हैं–

जिनेन्द्र देव ने मुनियों के लिए जिनकल्प और स्थविरकल्प ऐसे दो भेद कहे हैं–जो उत्तम संहननधारी हैं, वह पैर में कांटा चुभ जाने पर अथवा नेत्र में धूलि आदि पड़ जाने पर भी स्वयं नहीं निकालते हैं यदि कोई निकाल देता है तो मौन रहते हैं। जल वर्षा होने पर गमन रुक जाने से छह मास तक निराहार रहते हुए कायोत्सर्ग से स्थित हो जाते हैं, जो ग्यारह अंगधारी हैं धर्म अथवा शुक्ल ध्यान में तत्पर हैं, अशेष कथाओं को छोड़ चुके हैं, मौनव्रती हैं और गिरि कन्दरा में निवास करने वाले हैं, जो बाह्य-अभ्यंतर परिग्रह से रहित, स्नेहरहित, निःस्पृही यतिपतिजिन के समान हमेशा विचरण करते हैं, वे ही श्रमण 'जिनकल्पी' कहलाते हैं।

जिनेन्द्रदेव ने अनगार साधुओं को स्थविरकल्प भी बतलाया है। पाँच प्रकार के वस्त्र के त्यागी, प्रतिलेखन–पिच्छिका धारण करना, अट्ठाईस मूल-गुणों का पालन करना, जिनवर की मुद्रा (नग्न मुद्रा) धारण करना, संहनन[1] की अपेक्षा से इस पंचम काल में पुर, नगर और ग्राम में निवास करना, ऐसी चर्या वाले साधु स्थविरकल्पी हैं। ये संघ के साथ विहार करते हैं और अपनी शक्ति के अनुसार धर्म प्रभावना करते हुए शिष्यों का संग्रह और उनका पालन भी करते हैं। इस समय संहनन अतिहीन है, दुःषम काल है और मन चंचल है फिर भी, वे धीर-वीर पुरुष ही हैं जो कि महाव्रत के भार को धारण करने में उत्साही हैं। पूर्व में चतुर्थकाल में जिस शरीर से एक हजार वर्ष में जितने कर्मों

1. संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तवपहावेण।
पुरणयरगामवासी थविरे कप्पे ठिया जादा।।127।।

की निर्जरा की जाती है, इस समय हीन संहनन वाले शरीर से एक वर्ष में उतने ही कर्मों की निर्जरा हो जाती है।[1]

भद्रबाहु चरित में भी यही बात बताई गयी है कि जो उत्तम संहनन के धारी उपर्युक्त गुणों से विशिष्ट हैं, गिरि-गुफाओं में तथा नदियों के किनारे ध्यान करने वाले हैं वे जिनकल्पी हैं और जो हीन संहननधारी हैं, अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करने वाले हैं। इस भीषण कलिकाल में ये साधु हीन संहनन के होने से स्थानीय ग्राम, नगर आदि के जिनालय में रहते हैं।

श्री पद्मनंदि आचार्य ने भी कहा है कि–इस समय यहाँ इस कलिकाल में मुनियों का निवास जिनालय में हो रहा है और उन्हीं के निमित्त से धर्म एवं दान की प्रवृत्ति है। इस प्रकार मुनियों की स्थिति, धर्म और दान इन तीनों के मूल कारण गृहस्थ श्रावक हैं।

अजय–भाई विजय! आपने आज मुझे आगम की बातें बताकर सम्यग्ज्ञान प्रदान किया है। मैंने जो महान साधु 'मणिमाली' के बारे में कटु-शब्द कहकर कर्मबन्ध कर लिया है उसका मुझे इस समय बहुत ही दुःख हो रहा है। अब मैं आज यह नियम करता हूँ कि मुनियों की निंदा या उनके प्रति दुर्भावना कभी भी नहीं करूँगा।

विजय भाई! तुमने यह नियम ले लिया इससे आज मुझे बहुत खुशी हो रही है। कल तुम मेरे साथ साधुओं के दर्शन के लिये अवश्य चलना।

1. संहणणा अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तहबिदु धीरा पुरिसा महव्वयभर धरणउच्छरिया।।130।।
वरिससहस्सेण पुरा जं कम्मं हणइ तेण काएण।
तं संपइ वरिसेण हु णिज्जरयइ हीणसंहणणे।।131।। (भावसंग्रह)

तिरस्कार का फल तिरस्कार

(इन्द्र विद्याधर ने लीला मात्र में ही एक मुनि का तिरस्कार किया था। फलस्वरूप रावण के द्वारा वह भी तिरस्कार सहित बन्धन को प्राप्त हुआ था। उस समय उसे बहुत ही दुःख हुआ। पुनः अपने किये का पश्चाताप कर वह मुनि हो गया।)

सुधीर—रावण ने इन्द्र को भी जीत लिया था यह किंवदंती प्रसिद्ध है। तो क्या स्वर्ग के इन्द्रों से भी मनुष्यों का युद्ध होता है?

सुशील—नहीं मित्र! स्वर्ग के इन्द्रों के साथ मनुष्यों का युद्ध नहीं होता है किन्तु इन्द्र नामक विद्याधर मनुष्य को रावण ने जीत लिया था सो कथा पद्मपुराण में प्रसिद्ध है। उसे मैं संक्षेप से तुम्हें सुनाता हूँ।

विजयार्ध पर्वत की श्रेणी पर रथनूपुर नाम का एक नगर है। रावण के जमाने में सहस्रार नाम के राजा इस रथनूपुर के स्वामी थे। उसकी मानससुन्दरी रानी जब गर्भवती हुई तो उसे इन्द्र के वैभव को भोगने का दौहला हुआ। राजा सहस्रार ने विद्या के बल से इन्द्र जैसे वैभव तैयार किये और रानी के दौहले को पूर्ण किया। नव महीने बाद पुत्र रत्न के उत्पन्न होने पर राजा ने उसका नाम 'इन्द्र' रख दिया। वह पुत्र जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ तब उसने विजयार्द्ध पर्वत के समस्त विद्याधर राजाओं को अपने वश में कर लिया और अपना विशाल वैभव इन्द्र जैसा बनाया।

उसके अड़तालीस हजार रानियाँ थीं। मुख्य रानी का नाम शची था। पुत्र का नाम जयन्त था तथा उसने अपने श्वेतवर्ण के उत्तम हाथी का नाम ऐरावत रखा। उसने चारों दिशाओं में सोम, यम, वरुण आदि नाम के लोकपाल राजा रखे। अपनी सभा का नाम सुधर्मा सभा रखा। इस प्रकार से वह इन्द्र 'इन्द्र' के सदृश वैभव का अनुभव कर रहा था।

उस समय लंकापुरी का स्वामी माली नाम का विद्याधर था जो लंका में ही रहकर समस्त विजयार्ध पर्वत के विद्याधरों पर अनुशासन कर रहा था। इन्द्र के प्रभाव से जब राजाओं ने उसकी आज्ञा उल्लंघन करना शुरू कर दिया तब माली राजा और इन्द्र राजा का आपस में भयंकर युद्ध हुआ। इसमें इन्द्र ने माली को मार डाला। तब उस माली का भाई सुमाली अपनी रक्षा करता हुआ

पाताल लंका में निवास करने लगा। वहाँ उसके रत्नश्रवा नाम का पुत्र हुआ। इस रत्नश्रवा विद्याधर की कैकसी रानी ने ही रावण, विभीषण और कुम्भकर्ण को जन्म दिया।

जब रावण तरुण हुआ और उसे पता चला कि अपनी राज्य भूमि लंका को जीतकर इन्द्र विद्याधर ने मेरे बाबा को पराजित किया है, तब उसके हृदय में प्रतिशोध का भाव उत्पन्न हो गया अतः उसने नाना विद्याएँ सिद्ध कीं।

कालान्तर में चक्ररत्न को प्राप्त कर रावण दिग्विजय के लिये निकलता है। क्रमशः वह विजयार्ध पर्वत की भूमि में पहुँचता है। तब इन्द्र अपने सभासद देव विद्याधरों को आदेश देता है कि युद्ध की तैयारी करो। पिता सहस्रार के मना करने पर भी इन्द्र रावण के साथ घनघोर युद्ध करता है। उस युद्ध में उभय पक्ष के तमाम सैनिकों का क्षय हो जाता है। अनन्तर रावण और इन्द्र विद्याधर का परस्पर में युद्ध शुरू हो जाता है। उस युद्ध में शक्तिशाली रावण ने उछलकर अपना पैर इन्द्र के हाथी के मस्तक पर रखा और पैर की ठोकर से सारथि को नीचे गिरा दिया तथा इन्द्र को वस्त्र से बाँधकर अपने हाथी पर चढ़ा लिया। इस तरह रावण इन्द्र को जीतकर अपनी लंकापुरी में ले आया।

उस प्रसंग में राजा सहस्रार अपने सामंतों को साथ लेकर रावण के दरबार में आये। रावण ने उनका यथायोग्य विनय किया पुनः सहस्रार विद्याधर स्वामी ने कहा कि—हे रावण! तुम अब मेरे पुत्र को छोड़ दो।'' रावण बोला—''पूज्यवर! मैं उसे इस शर्त पर छोड़ सकता हूँ कि आज से तुम सभी लोग मेरे नगर में बुहारी देने का काम करो। धूलि, अशुचि पदार्थ कंटक आदि साफ करो। इन्द्र भी सुगन्धित जल से पृथ्वी का सिंचन करें और, उसकी शचि आदि इन्द्राणियाँ पंचवर्ण चूर्ण से मंगल चौक पूरें। यदि आप लोग यह शर्त मंजूर करते हो तो मैं इन्द्र को अभी ही छोड़े देता हूँ।'' इतना कहकर रावण बार-बार हँसने लगा।

पुनः सहस्रार से विनयावनत होकर रावण ने कहा कि—''पूज्यवर! आप जैसे इन्द्र के पिता हैं वैसे ही मेरे भी पितातुल्य पूज्य हैं। मैं आपकी आज्ञा को सहर्ष पालूँगा। आज से इन्द्र मेरा चौथा भाई है। मैं उसके साथ इस पृथ्वीतल का राज्य निष्कंटक होकर करूँगा। इत्यादि नाना प्रकार के विनय वचनों से सहस्रार को सन्तुष्ट कर इन्द्र को छोड़ दिया। इन्द्र भी अपने पिता के साथ

रथनूपुर नगर को वापस आ गया किन्तु उसके मन में शांति नहीं हो रही थी। उसे बन्धन से छूटने का सुख नहीं था किन्तु अपने पराजय का महान दुःख हो रहा था।

एक दिन राजा इन्द्र अपने राजमहल में विद्यमान विशाल जिनालय में बैठे हुए पराजय की चिन्ता से अतिशय चिन्तित हो रहे थे। इसी बीच में 'निर्वाणसंगम' नाम के चारण ऋद्धिधारी महामुनि आकाशमार्ग से जाते हुए वहाँ जिनमन्दिर के दर्शनार्थ आ गये। राजा इन्द्र ने उनका अतिशय विनय करके उनके चरणों के निकट बैठकर अपने पराभव का कारण पूछा। उस समय मुनिराज कहते हैं–"हे इन्द्र! इसी भव में तुमने लीलामात्र में कुछ पाप संचित कर लिया था उसके फलस्वरूप इस पराजय को प्राप्त हुए हो। सो सुनो–

अरिंजयपुर नगर में वह्निवेग विद्याधर ने अपनी 'अहिल्या' पुत्री का स्वयंवर किया था। उस समय वहाँ तुम भी गये थे किन्तु कर्मसंयोग से कन्या ने चन्द्रावर्त नगर के राजा आनन्दमाल के गले में वरमाला डालकर उसका वरण कर लिया। ईर्ष्याजन्य बहुत भारी क्रोध के कारण तुम उसी समय से आनन्दमाल से द्वेष करने लगे। कुछ ही दिन बाद आनन्दमाल ने अपने भाई के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ले ली और उत्कृष्ट तप करने लगे।

एक समय वे महामुनि रथावर्त पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय तुम अपने विमान में बैठे हुए उधर से निकले और उन्हें पहचान लिया। तब तुमने क्रोध से सहित होकर अनेक प्रकार से उनकी हँसी की। तुम बोले– "अरे! काम भोग में अतिशय लंपट तू अहिल्या पति है, इस समय तू यहाँ क्यों बैठा है?" इत्यादि कहते हुए तुमने उन मुनिराज को रस्सी से कसकर लपेट लिया। फिर भी वे मुनिराज पर्वतसम निश्चल ध्यानमग्न बने रहे। यद्यपि आनन्दमाल मुनि किंचित् भी विकार को प्राप्त नहीं हुए थे किन्तु उन्हीं के समीप उनके छोटे भाई कल्याणमाल मुनि प्रतिमायोग से विराजमान थे। सो तुम्हारे इस कुकृत्य से दुःखी होकर उन्होंने प्रतिमायोग का संकोच कर तथा लम्बी और गरम श्वाँस भरकर तुम्हारे लिये इस प्रकार कहा कि–"तुमने इन निरपराध मुनिराज का तिरस्कार किया है इसलिये तुम भी बहुत भारी तिरस्कार को प्राप्त होवोगे।"

वे मुनि अपनी अपरिमित श्वाँस से तुम्हें भस्म ही कर देना चाहते थे परन्तु तुम्हारी सर्वश्री नामक भार्या ने उन्हें शान्त कर लिया। तुम्हारी सर्वश्री रानी

सम्यग्दर्शन से युक्त तथा मुनिजनों की पूजा करने वाली थी इसलिये उत्तम हृदय के धारक मुनि भी उनकी बात मानते थे। यदि वह साध्वी उन मुनिराज को शान्त नहीं करतीं तो उनकी क्रोधाग्नि को कौन रोक सकता था? जो मनुष्य साधुओं का तिरस्कार करते हैं वे तिर्यंचगति और नरकगति में महान् दुःख पाते हैं। जो मनुष्य मन में साधुओं का पराभव करते हैं वे इस लोक और परलोक में परम दुःख को प्राप्त होते हैं।[1] जो दुष्ट-चित्त मनुष्य निर्ग्रन्थ मुनियों को गाली देते हैं अथवा मारते हैं उन पापी मनुष्यों के विषय में क्या कहा जाये? मनुष्यों के मन, वचन, काय से किये गये अशुभ कर्म छूटते नहीं हैं, समय पाकर वे निकाचित कर्म अवश्य ही फल देते हैं।"

इस प्रकार से मुनिराज के द्वारा कहने पर तथा अनेक पूर्व भवों की घटना को भी सुनाने पर राजा इन्द्र को तत्क्षण ही पूर्वजन्मों का स्मरण हो आया। इस भव में अपने द्वारा किये गये मुनिराज के तिरस्कार को भी स्मरण करता हुआ वह इन्द्र महान् दुःख को प्राप्त हुआ। गुरूदेव की बार-बार स्तुति करके अपने पुत्र को राज्य लक्ष्मी का भार सौंप दिया। अनन्तर अपने पुत्रों और लोकपालों के समूह के साथ जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। यद्यपि उनका शरीर इन्द्र के समान लोकोत्तर भोगों से लालित हुआ था तो भी उन्होंने असाधारण तप का भार धारण कर लिया। तदनन्तर बहुत काल तक घोर तपश्चरण करके अन्त में शुक्लध्यान से कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हो गये।

सुधीर–भाई सुशील! आपने हमें यह इन्द्र नामधारी विद्याधर का बहुत ही सुन्दर आख्यान सुनाया। इसमें सबसे बड़ी उपलब्धि मुझे यह हुई है कि मुनियों की अवहेलना कभी भी नहीं करनी चाहिये। उसका फल कटु ही होता है।

सुशील–हाँ भाई! आज भी ऐसे उदाहरण देखने में आते हैं कि जो अपने धन या विद्या के मद से गर्विष्ठ होकर मुनि अथवा आर्यिका आदि त्यागी वर्गों की निन्दा करते हैं, उनका झूठा अप-प्रचार करते हैं, वे निश्चित ही अनेक प्रकार

---

1. विधाय साधुलोकस्य तिरस्कारं जना महत्।
दुःखमत्र प्रपद्यन्ते तिर्यक्षु नरकेषु च।।94।।
मनसापि हि साधूनां पराभूतिं करोति यः।
तस्य सा परमं दुःखं परत्रेह च यच्छति।।95।।
(पद्मपुराण, पर्व 13)

के कष्टों का सामना करते हैं। जो पापभीरू हैं, वे तो उस पाप के फल को भोगकर पुनः त्यागियों की निन्दा करना छोड़ देते हैं, किन्तु यदि कोई दीर्घकर्मी हैं तो अधिकाधिक मुनि निन्दा ही नहीं करते हैं बल्कि निन्दा करने का अपना एक धन्धा ही बना लेते हैं।

सुधीर—बन्धु! वे यदि इस जन्म में पाप का फल न भोगें तो क्या वे आगे उस कुफल के भोगने से छूट जायेंगे?

सुशील—नहीं मित्र! नहीं, शास्त्रों में तो ऐसा बतलाया गया है कि देव, धर्म या गुरू की निन्दा से निकाचित कर्मों का बन्ध हो जाता है जिसका फल बिना भोगे नहीं छूटता है। इस जन्म में या अगले जन्म में अथवा अनेकों जन्म के अनन्तर भी वह बँधा हुआ कर्म अपना फल देता ही देता है।

सुधीर—मित्र! मेरे पिताजी के एक मित्र हैं। वे हमेशा साधुओं को या आर्यिकाओं को देखकर उनके प्रति आरोप उठाया करते हैं। उन्हें ढोंगी, पाखण्डी और भ्रष्टी कहा करते हैं। अनन्तर कभी-कभी अनेक संकटों को झेलते हैं। उस समय मुनिभक्त लोग भी कहते हैं कि देखो, इसने अपने किये का फल पा लिया, फिर भी वे सज्जन अपने स्वभाव से लाचार हैं। उनके पुत्र और पत्नी भी उन्हें अकारण ही त्यागियों की निन्दा करने को मना करते रहते हैं। फिर भी वे अपने धन के और सामाजिक अधिकार के मद में चूर हैं। संकट, रोग, शोक आदि भोगकर भी अपनी आदत को नहीं सुधारते हैं। उनके लिये क्या किया जाये?

सुशील—भाई सुधीर! तुम उनके लिए क्या कर सकते हो? जब अकारण ही वे त्यागी वर्गों की निन्दा-अवहेलना करके पाप संचय कर रहे हैं तो उसका फल तो उन्हें भोगना ही पड़ेगा चाहे आज या कल। एक न एक दिन संचित कर्म उदय में आता ही है। अस्तु, तुम्हें तो अपनी प्रवृत्ति को सुधारने की तरफ लक्ष्य रखना चाहिये। महापुरुषों के तिरस्कार का फल तिरस्कार ही है और उनके सत्कार का फल सत्कार ही है, ऐसा निश्चित है।

महातीर्थ में स्नान करो

सुशील—चलो भाई प्रवीण! चलें, हम लोग भी गंगास्नान करके पापों को हल्का कर लें।

प्रवीण—भाई सुशील! गंगा नदी आदि में स्नान करने से केवल शरीर का मैल ही धुलेगा, न कि आत्मा का मैल। आत्मा के मैल को धोने के लिये अथवा कुछ पाप मल को हल्का करने के लिए तो अर्हंत भगवान के तीर्थ में स्नान करो। देखो 'अर्हंत भगवान ही सच्चे तीर्थ हैं'।

सुशील—अच्छा? तो इस तीर्थ में नहाने वाले यात्री कौन-कौन हैं?

प्रवीण—तीनों लोकों के भव्य जीव इस तीर्थ में नहाने वाले यात्री हैं।

सुशील—इसमें जल कहाँ है?

प्रवीण—इसमें लोकालोक के सभी सच्चे तत्त्वों को बतलाने में समर्थ ऐसा 'दिव्यज्ञान' रूपी जल प्रवाहित हो रहा है।

सुशील—नदी में तट होते हैं, सो इसमें कहाँ हैं?

प्रवीण—इसमें व्रत और शील के अमल और विशाल दोनों तरफ तट बने हुए हैं।

सुशील—नदी में राजहंस रहते हैं।

प्रवीण—यहाँ भी शुक्लध्यान को ध्याने वाले महामुनिगणरूपी राजहंस शोभित हो रहे हैं।

सुशील—वहाँ मन्द सुन्दर घोष होता रहता है।

प्रवीण—यहाँ भी स्वाध्याय का मन्द, बहुत ही सुन्दर घोष होता रहता है।

सुशील—नदी में बालू चमकती रहती है।

प्रवीण—हाँ भाई सुशील! इस महानदी में भी अनेकों गुण, समिति और गुप्तिरूपी बालू का समूह है जो रत्न के कण के समान चमक रहा है।

सुशील—नदी में आवर्त (भँवर) रहते हैं।

प्रवीण—हाँ, यहाँ भी क्षमारूपी हजारों भँवर होते रहते हैं।

सुशील—नदी में अनेकों तरह के छोटे-छोटे फूल खिले रहते हैं।

प्रवीण—यहाँ भी सर्व जीवदयारूपी खिले हुए पुष्पों से शोभित बहुत सी लतायें फैली हुई हैं।

सुशील–नदी में लहरें लहराती हैं।

प्रवीण–यहाँ भी दुःसह परीषहरूपी बहुत सी लहरें लहराती रहती हैं।

सुशील–नदी में फेन और काई रहती है।

प्रवीण–किन्तु इस महान् उत्तम नदी में कषायरूपी फेन नहीं है और राग-द्वेष आदि दोष रूपी शैवाल–काई भी नहीं है।

सुशील–नदी में कीचड़ रहती है, मगर नक्र आदि जलचर जीव भरे रहते हैं।

प्रवीण–भाई! इस नदी में मोहरूपी कीचड़ नहीं है कि जिस कीचड़ में फँसकर जीव संसाररूपी समुद्र के पार नहीं हो पाये तथा इस नदी में यमराज–मरणरूपी नक्र-चक्र, मगर आदि जलचर हिंसक प्राणी नहीं हैं।

सुशील–तब तो भाई! यह नदी बहुत ही उत्तम है। जहाँ पर फेन, काई, कीचड़ और जलचर जन्तु नहीं हैं। हाँ प्रवीण! और बताओ नदी के किनारे तमाम पक्षियों के कल-कलरूप मधुर शब्द होते रहते हैं।

प्रवीण–सुशील! इस नदी में बहुत से ऋषिगणरूपी पक्षीगणों से पंचपरम गुरू की स्तुतिरूप मन्द-सुन्दर निर्घोष होता रहता है।

सुशील–नदी में पुल होते हैं।

प्रवीण–इसमें भी अनेक प्रकार की तपश्चर्या में तत्पर तपोनिधि साधु वे उत्तम पुल हैं क्योंकि उनके सहारे भी संसार समुद्र पार किया जाता है।

सुशील–नदी के आसपास उसी के निमित्त से झरने निकलते रहते हैं।

प्रवीण–हाँ, यहाँ भी शुभ कर्मों का आस्रव, पाप का सँवर अथवा पाप-पुण्य दोनों का पूर्ण सँवर और निर्जरारूपी झरने सुन्दर-सुन्दर झरते रहते हैं।

सुशील–इस नदी में स्नान कर क्या किसी ने पाप मल धोया है?

प्रवीण–अवश्य, महान्-महान् गणधरों ने, चक्रवर्तियों ने, इन्द्रों ने और भी बहुत भव्यतर पुंडरीक महापुरुषों ने इस अर्हंत भगवानरूपी महानदी में इस अमेय तीर्थ में कलि कलुष को धोने के लिये भक्ति से स्नान किया है और कर्म मल को धोकर निरंजन, कृतकृत्य, शुद्ध, विशुद्ध, सिद्धपरमात्मा हो गये हैं।

इसलिये मैं भी इस महातीर्थ में स्नान करने के लिए उतरा हूँ। यह तीर्थ परम पावन है, भेदभाव से रहित सभी जीवों को पवित्र करने वाला है और अन्य लोगों से अजेय है तथा स्वभाव से ही गंभीर बहुत ही गहरा है। यह तीर्थ मेरे भी सम्पूर्ण दुस्तर पापों को दूर करे और मुझे भी शीघ्र ही पवित्र करे।

सुशील–ओहो! यह महातीर्थ कितना सुन्दर है। अब मैं भी रोज इसमें स्नान करने आया करूँगा।

प्रवीण–तो भाई सुशील! यदि तुममें इस महातीर्थ में स्नान करने की भावना जाग्रत हुई है तो यह श्लोक[1] याद कर लो और नियम कर लो कि आज से मैं प्रतिदिन जिनमन्दिर के दर्शन करने जाऊँगा और श्री जिनेन्द्रदेव के सामने इस मधुर स्तुति का पाठ करूँगा। देखो सुशील! यह स्तुति श्री गौतम गणधर के द्वारा रचित है। जब उन्होंने सर्वप्रथम श्री वीर भगवान के समवसरण में श्रीवीर प्रभु को देखा था। देखते ही गद्गद वाणी में 'जयतु भगवान' इत्यादि बोलते हुए भक्ति से विभोर होकर स्तुति की थी। इस स्तुति पाठ के मध्य के ये छह श्लोक हैं–

महातीर्थ

अर्हत् देव महानद उत्तम, तीर्थ अलौकिक हैं जग में।
त्रिभुवन भविजन तीर्थ स्नान से, पापों का क्षालन करते।।1।।

लोकालोक सुतत्व प्रकाशक, दिव्य ज्ञान जल नित बहता।
शील व सद्व्रत विशाल निर्मल, दो तट से शोभित दिखता।।2।।

शुक्लध्यानमय राजहंस, स्थिर राजत हैं इस नद में।
मंद्र घोष स्वाध्याय विविध गुण, समिति गुप्ति बालू चमके।।3।।

क्षमादि हैं आवर्त सहस्रों, सर्वदयामय कुसुम खिले।
लता शोभती दुःषह परिषह, भंग तरंगित हैं लहरें।।4।।

रहित कषाय फेन से, राग-द्वेष आदि शैवाल रहित।
रहित मोह कीचड़ से, मरणादिक जलचर मकरादि रहित।।5।।

अति पावन यह तीर्थ अन्य से, अजेय अनुपम है गम्भीर।
मैं स्नान हेतु उतरा हूँ, मम दुष्कृत मल करिये दूर।।6।।

सुशील–ओहो! मैं आज बड़ा ही भाग्यशाली हूँ जो कि मुझे श्री गौतमस्वामी के मुखकमल से निर्गत स्तुति पाठ मिल गया है। अब मैं आज से देवदर्शन का नियम करता हूँ। साथ ही इन छह श्लोकों को भी पढ़ने का नियम करता हूँ।

1. अर्हन्महानदस्य त्रिभुवन भव्यजन तीर्थ यात्रिक दुरित।
प्रक्षालनैककारणमतिलौकिककुहकतीर्थमुत्तमतीर्थम्।।

भैया! तुम मुझे श्री गौतम स्वामी रचित पूरी स्तुति को अवश्य दिखाना।

प्रवीण—ठीक है, मैं तुम्हें अवश्य दिखाऊँगा। देखो, यह स्तुति चैत्यभक्ति 'दशभक्ति' पाठों में बहुत बार छप चुकी है और 'सामायिक पाठ' नाम की पुस्तक में इसका हिन्दी पद्यानुवाद बहुत ही सुन्दर है, वहीं से मैंने ली है। उस पुस्तक को तुम भी मँगा लो क्योंकि संस्कृत में तो सारा भाव स्पष्ट नहीं हो पाता है। अब हम यदि संस्कृत भी अच्छी तरह से पढ़ लें तो सचमुच में इन संस्कृत स्तुतियों के पढ़ने में बड़ा ही आनन्द प्राप्त होवे।

सुशील—मैं अब यह पुस्तक भी मँगा लूँगा और संस्कृत व्याकरण पढ़ने के लिये भी प्रयत्न करूँगा।

जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन का महत्व

जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा के दर्शन की भावना करते ही दो उपवास का फल मिल जाता है। चलने की अभिलाषा करते ही तीन उपवास का फल, चलने का आरंभ करते ही चार उपवास का फल, चलते-चलते पाँच उपवास का फल, कुछ दूर चले आने पर बारह उपवास का फल, बीच मार्ग में पहुँच जाने पर पन्द्रह उपवास का फल, सुमेरु की चोटी का दर्शन करते ही एक मास के उपवास का फल, मंदिर में प्रवेश करने पर छह मास के उपवास का फल, मंदिर के द्वार में प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का फल, तीन प्रदक्षिणा देने पर सौ वर्ष के उपवास का फल, जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के दर्शन करने से हजार वर्ष के उपवास का फल मिलता है। पुनः जिनप्रतिमा के सन्मुख खड़े होकर भावपूर्वक स्तुति करने से अनंत उपवास का फल प्राप्त होता है। यथार्थ में जिनेन्द्र भगवान की भक्ति से बढ़कर और कोई उत्तम पुण्य नहीं है।

—पद्मपुराण, पर्व 32, पृ. 99

भगवान रामचन्द्र के आहार का दृश्य

मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने महामुनि सुव्रत आचार्य के पास में जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उस समय शत्रुघ्न, विभीषण, सुग्रीव, नील आदि कुछ अधिक सोलह हजार साधु हुए और सत्ताईस हजार प्रमुख-प्रमुख स्त्रियाँ श्रीमती नामक साध्वी के पास आर्यिकायें हो गईं।

गुरू की आज्ञा पाकर निर्ग्रंथ मुनि श्रीरामचन्द्र एकाकी विहार को प्राप्त हुए। उत्तम योग के धारक एवं योग्य विधि का पालन करने वाले उन महामुनि को उसी रात्रि में अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया।

तदनन्तर पाँच दिन का उपवास कर धीर-वीर महातपस्वी योगी श्रीरामचन्द्र पारणा के लिए विधिपूर्वक नन्दस्थली नगरी में आये। वे राम अपनी दीप्ति से तरुण सूर्य के समान सुशोभित हो रहे थे। महाकांति के प्रवाह से पृथ्वी को तर कर रहे थे। ऐसे श्रीराम को देख नगरी के समस्त लोग क्षोभ को प्राप्त हो गये। लोग परस्पर कहने लगे—"अहो! आश्चर्य देखो, अहो! आश्चर्य देखो, जो पहले कभी देखने में नहीं आया ऐसा यह लोकोत्तर आकार देखो। अहो! इनका धैर्य धन्य है, सत्व पराक्रम धन्य है, रूप धन्य है, कांति धन्य है, शान्ति धन्य है, मुक्ति धन्य है और गति धन्य है। अहो! चार हाथ आगे जमीन देखकर चलने वाले ये महापुरुष कौन हैं? किस कुल के अलंकार हैं? और आहार ग्रहण कर किस पर अनुग्रह करेंगे? अहो! जिनका पराक्रमरूपी पर्वत क्षोभ रहित है ऐसे ये पुरुषोत्तम राम हैं। आओ, आओ, इन्हें देखकर अपने मन, दृष्टि, जन्म, कर्म, बुद्धि, शरीर और चारित्र को सार्थक करो। इस प्रकार नगरवासी लोगों का आश्चर्य से भरा हुआ कोलाहलपूर्ण शब्द उठ खड़ा हुआ।

समयानुकूल चेष्टा करने वाले नर-नारियों से नगर के लम्बे-चौड़े मार्ग भर गये। कोई उत्तम पदार्थों से परिपूर्ण पात्र हाथ में लिये एवं कोई जल की झारी हाथ में लिये उत्सुकता से भरी अनेकों स्त्रियाँ खड़ी हो गईं। अनेकों मनुष्य पूर्ण तैयारी के साथ मनोज्ञ जल से भरे हुए कलश ले लेकर आ पहुँचे। "हे स्वामिन्! यहाँ आइये, हे स्वामिन्! यहाँ ठहरिये, हे मुनिराज! प्रसन्नतापूर्वक यहाँ विराजिये।" ऐसे पड़गाहन के उत्तमोत्तम शब्द चारों तरफ फैल गये। हर्ष से रोमांचित हुए जन गद्गद होकर जोर-जोर से अस्पष्ट सिंहनाद कर रहे थे—"हे मुनिन्द्र! जय हो,

हे पुण्य के पर्वत! वृद्धिंगत होवो तथा समृद्धिमान होओ!'' इत्यादि वचनों से आकाश व्याप्त हो रहा था।

''शीघ्र ही बर्तन लाओ, थाली को जल्दी देखो, सुवर्ण की थाली जल्दी लाओ, दूध लाओ, गन्ना लाओ, दही पास में रखो, चाँदी के उत्तम बर्तन में शीघ्र ही खीर रखो, शीघ्र ही रबड़ी, शक्कर, मिश्री लाओ, इस बर्तन में कपूर से मिश्रित शीतल जल भरो, शीघ्र ही पूड़ियाँ लाओ, कलश में शीघ्र ही उत्तम शिखरिणी भरो, अरी चतुरे! हर्षपूर्वक उत्तम बड़े-बड़े लड्डू दे।'' इत्यादि रूप से कुछ स्त्रियों और पुरुषों के शब्दों से वह नगर तन्मय (शब्दमय) हो गया था।

उस समय उस नगर के लोग इतने संभ्रम में पड़े हुए थे कि भारी जरूरत के कार्य को भी कुछ नहीं गिन रहे थे, न ही कोई अपने बच्चों को ही देख रहे थे। संकरी गलियों में वेग से दौड़ने वाले कितने ही लोगों ने पड़गाहन करने वाले लोगों के हाथों से बर्तन गिरा दिये और कितनों ने उन पड़गाहन विधि करने वाले मनुष्यों को ही गिरा दिया। बहुत से लोग हड़बड़ाहट के कारण विरुद्ध चेष्टायें करने लगे। लोगों के उस भारी कोलाहल से हाथियों ने भी अपने बाँधने के खम्भे तोड़ दिये। वे हाथी गंडस्थल के मदजल से पृथ्वी तल को भिगोते हुए दौड़ने लगे। गम्भीर घोड़े भी कान खड़े करके और आँखों की पुतलियोंको स्थिर करके घास खाना भूल गये और भयभीत होकर जोरों से हिनहिनाने लगे। बंधन तोड़कर भागते हुए घोड़ों के पीछे घबराये हुए सईस दौड़ रहे थे। ऐसे कितने ही घोड़ों ने मनुष्यों को धक्का दे-देकर व्याकुल कर दिया था।

इस प्रकार जब तक दान के इच्छुक मनुष्य पड़गाहन में पारस्परिक महाक्षोभ कर रहे थे, तब तक क्षुभित सागर के समान उनका घोर शब्द सुनकर राजमहल में स्थित राजा प्रतिनन्दी सहसा क्षोभ को प्राप्त होकर ''यह क्या है?'' ऐसा शब्द करता हुआ अपने परिकर के साथ शीघ्र ही महल की छत पर चढ़ गया। वहाँ से उसने देखा कि पृथ्वी के तिलक ऐसे प्रधान साधु विचर रहे हैं और उन्हीं के निमित्त से पृथ्वी को कंपायमान करने वाला यह कोलाहल हो रहा है। उसी समय राजा ने बहुत से वीरों को आज्ञा दी कि शीघ्र ही जाकर और प्रीतिपूर्वक नमस्कार करके इन उत्तम योगिराज को हमारे यहाँ ले आओ। वे भट योद्धा क्षण भर में भीड़ को चीरते हुए उन मुनि के पास पहुँच गये और हाथ जोड़कर मस्तक से लगाकर विनयपूर्वक कहा–''हे भगवन्! इच्छित वस्तु

ग्रहण कीजिये।'' इस प्रकार हमारे राजा भक्तिपूर्वक प्रार्थना करते हैं सो आप उनके घर पधारिये। अन्य जनों द्वारा निर्मित अपथ्य, विवर्ण एवं नीरस भोजन से आपको क्या लाभ है? हे महासाधो! आओ, प्रसन्नता करो और इच्छापूर्वक अभिलषित उत्तम आहार ग्रहण करो। ऐसे कहने वाले सिपाहियों ने पड़गाहन विधि में तत्पर हुई उत्तम स्त्रियों को दूर हटा दिया जिससे उनके चित्त विषाद को प्राप्त हो गये।

इस तरह सिपाहियों द्वारा निवेदन किये जाने पर मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्र ने आगम विधि से उसे अंतराय समझ लिया और वे राजा तथा नगरवासियों दोनों के यहाँ आहार ग्रहण से विमुख होकर वापस वन की ओर चले गये। तब लोगों में पहले की अपेक्षा और अधिक क्षोभ हो गया। मुनिराज सघन वन में जाकर प्रतिमायोग धारण कर ध्यान में लीन हो गये और पुनः पाँच दिन का उपवास ग्रहण कर लिया।

प्रश्न–कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि ऐसी पड़गाहन विधि से जब ग्राम या शहर में कोलाहल हो जाता है सो यह नाटकीय दृश्य साधुओं को नहीं उपस्थित करना चाहिये। एक या दो जन पड़गाहन को खड़े हों, शांति से जाकर आहार करके आना चाहिये।

उत्तर–इस पड़गाहन विधि के दृश्य को नाटकीय दृश्य कहने वाले सचमुच में आगम से विरुद्ध वचन बोलते हैं। देखो! जब रामचन्द्र जैसे महायोगी की चर्या भी ऐसी कोलाहलपूर्ण हो गई थी तब यदि आज के युग में कदाचित् क्वचित् मुनियों को देखकर उनकी नवधा भक्ति करने वाले श्रावक भक्ति से विभोर होकर घर के दरवाजे पर खड़े होकर पड़गाहन करते हैं तो कोई बड़ी बात नहीं है, बल्कि आगमोक्त विधि यही है।

प्रश्न–पुनः श्री रामचन्द्रजी का आहार कब और कैसे हुआ?

उत्तर–पुनः योगिराज श्रीराम ने यह नियम कर लिया कि–''यदि इस निर्जन वन में ही मुझे आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं।''

इस प्रकार कठिन व्रतपरिसंख्यान लेकर जब वे मुनि पाँच दिन बाद आहार के लिये निकले तब वही नंदस्थली नगरी के राजा ने अपनी रानी सहित उसी वन में पड़गाहन कर आहार दान दिया। दैववश वह राजा उस दुष्ट घोड़े के द्वारा हरा जाकर उस वन में लाया गया था और रानी भी खोजते हुए वहीं

आ पहुँची थीं। उन्होंने वहीं पर भोजन बनाया था। सो अकस्मात् मुनिराज को देखकर नवधाभक्ति से पड़गाहन करके विधिवत् खीर आदि का आहार दिया। उसी समय आकाश से देवों ने रत्नों की वृष्टि आदि पंचाश्चर्य वृष्टि की और जय-जयकार से आकाश को गुँजा दिया। मुनिराज के आहार के बाद रानी के पात्र में खीर आदि अन्न अक्षीण हो गया अर्थात् वृद्धि को प्राप्त हो गया और उस दिन क्षीण ही नहीं हुआ, क्योंकि ये महामुनि महान अक्षीण आदि ऋद्धि के धारक थे। प्रतिनंदी राजा ने देवों के द्वारा रत्नवर्षा आदि पूजा को प्राप्त किया और मुनिराज से देशव्रत को प्राप्त किया, जिससे उस विशुद्ध सम्यक्त्वी राजा ने उस दिन अपने जीवन को सफल माना।

देखो बालकों! जो मनुष्य जन्म पाकर इस प्रकार से विधिपूर्वक मुनि-आर्यिकाओं को आहारदान देते हैं वे सचमुच में अपने मनुष्य-जन्म को धन्य और सार्थक कर लेते हैं।

दिगम्बराचार्य गुरु सबसे बड़े वैद्य हैं

जैसे वैद्य, रोगी, औषधि और परिचारक के संयोग से आरोग्य होता है वैसे ही गुरु, शिष्य, रत्नत्रय और साधन के संयोग से मोक्ष होता है।

आचार्य वैद्य हैं, शिष्य रोगी है, औषधि चर्या है। इन्हें तथा क्षेत्र, बल, काल और पुरुष को जानकर धीरे-धीरे इनमें दृढ़ करे।

आचार्य देव वैद्य हैं, शिष्य रोगी हैं, औषधि निर्दोष भिक्षा चर्या है, शीत, उष्ण आदि सहित प्रदेश क्षेत्र हैं, शरीर की सामर्थ्य आदि बल है, वर्षा आदि काल हैं एवं जघन्य, मध्यम तथा उत्कृष्ट भेद रूप पुरुष होते हैं। इन सभी को जानकर आकुलता के बिना आचार्य शिष्य को चर्यारूपी औषधि का प्रयोग कराये ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वैद्य रोगी को आरोग्य हेतु औषधि प्रयोग कराकर स्वस्थ कर देता है।

—मूलाचार-श्री वट्टकेराचार्य

हिंसक यज्ञ की उत्पत्ति

सुधेश—पिताजी! यज्ञ में हिंसा की प्रथा कैसे चली?

पिताजी—श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकर के मोक्ष चले जाने के बाद उनके तीर्थ में सगर राजा से द्वेष रखने वाले एक 'महाकाल' नाम के असुर ने यज्ञ में हिंसा करने का उपदेश दिया।

सुधेश—महाकाल ने ऐसा क्यों किया?

पिताजी—इसका सारा इतिहास मैं बताता हूँ। सुनिये—

इसी भरतक्षेत्र में 'चारणयुगल' नाम का एक नगर है। उसमें सुयोधन नाम का राजा राज्य करता था। उसकी 'अतिथि' नाम की पट्टरानी थी। इन दोनों के 'सुलसा' नाम की पुत्री हुई थी। उसके स्वयंवर के लिए विधिवत् सर्वत्र सूचना पहुँचने पर बहुत से राजागण 'चारणयुगल' नगर में आ गये।

अयोध्या का राजा सगर उस स्वयंवर में जाने को उत्सुक था कि उसने अपने तेल लगाने वाले के मुख से सुना कि शिर में एक सफेद केश आ गया है। राजा कुछ विरक्त हो गया। राजा सगर की मन्दोदरी धाय ने उसका फल किसी उत्तम वस्तु का लाभ सूचक बतला दिया और मन्त्री विश्वभू ने आकर राजा से कहा कि महाराज! हम ऐसा ही प्रयत्न करेंगे कि वह 'सुलसा' तुम्हें ही वरण करे। सगर की मन्दोदरी धाय ने सुलसा के पास आकर राजा सगर के अनेकों गुणों का वर्णन करके 'सुलसा' को राजा सगर में आसक्त कर लिया। इधर रानी 'अतिथि' को जब यह बात मालूम हुई तब उसने राजा सगर की निन्दा करके अपने भाई के पुत्र 'मधुपिंगल' को वरण करने के लिए सुलसा को समझाया और मन्दोदरी का सुलसा के पास आना-जाना बन्द कर दिया। मन्दोदरी ने यह बात राजा सगर को कही और राजा सगर ने अपने 'विश्वभू' मन्त्री को बुलाकर कार्य सिद्धि के लिये आदेश दिया।

बुद्धिमान मन्त्री ने राजा की बात स्वीकार कर कूटनीति से 'स्वयंवर विधान' नामक एक ग्रन्थ बनवाया और उसमें वर के अच्छे-बुरे लक्षण लिख दिये और उस ग्रन्थ को संदूकची में बन्द करके गुप्तरूप से उसी नगर के बगीचे में गड़वा दी। किसी समय जमीन खोदते समय वह संदूकची निकाली गयी और यह 'प्राचीन शास्त्र' है ऐसा समझकर वह पुस्तक राजकुमारों के समूह में पढ़वायी गयी।

उसमें लिखा था कि कन्या और वर के समुदाय में जिसकी आँख सफेद और पीली हो, माला के द्वारा उसका सत्कार नहीं करना चाहिये अन्यथा कन्या की मृत्यु हो जाती है या वर मर जाता है, इत्यादि। ये बातें मधुपिंगल में मौजूद थीं अतः वह यह सब सुन लज्जावश वहाँ से बाहर चला गया और हरिषेण गुरू के पास जाकर जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। राजा सगर में आसक्त सुलसा ने स्वयंवर में उसे ही वरण कर लिया।

मधुपिंगल मुनिराज किसी दिन आहार के लिए किसी नगर में गये थे। वहाँ कोई निमित्तज्ञानी उनके लक्षण देखकर कहने लगा कि–"इस युवा के चिह्न तो पृथ्वी का राज्य करने के योग्य हैं परन्तु यह भिक्षा भोजन करने वाला है। इससे ऐसा जान पड़ता है कि इन सामुद्रिक शास्त्रों से कोई प्रयोजन नहीं है, ये सब व्यर्थ हैं।" उसके साथ दूसरे निमित्तज्ञानी ने कहा कि–"यह तो राज्य लक्ष्मी का ही उपभोग करता किन्तु सगर के मन्त्री ने झूठ-मूठ कृत्रिम शास्त्र दिखलाकर इसे दूषित ठहरा दिया, इसलिये इसने लज्जावश दीक्षा ले ली है।" उस निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर मधुपिंगल मुनि क्रोधाग्नि में प्रज्ज्वलित होगये।

"मैं इस तप के फल से अगले जन्म में राजा सगर के समस्त वंश को निर्मूल करूँगा" ऐसा उन बुद्धिहीन मधुपिंगल मुनि ने निदान कर लिया। अन्त में मरण करके वह असुरेन्द्र की महिष जाति की सेना की पहली कक्षा में चौंसठ हजार असुरों का नायक 'महाकाल' नाम का असुर हुआ। वहाँ पर कुअवधिज्ञान से पूर्वभव के सब वृत्तान्त विदित कर वह देव क्रोध से भर गया। मन्त्री और राजा सगर के ऊपर उसका बैर और दृढ़ हो गया, फिर भी वह उन्हें जान से नहीं मारना चाहता था। अपने अभिप्राय को सफल करने के लिए वह उपाय और सहायकों की चिंता में यत्र-तत्र घूम रहा था। इधर उसके अभिप्राय को सिद्ध करने वाली दूसरी घटना हो गई।

इसी भरतक्षेत्र सम्बन्धी धवल देश में एक 'स्वस्तिकावती' नाम का नगर है। उसके राजा विश्वावसु की श्रीमती रानी से 'वसु' नाम का पुत्र हुआ था। उसी नगर में 'क्षीरकदंब' नाम का श्रेष्ठ ब्राह्मण अध्यापक था। उसके पास उसका पुत्र पर्वत, दूसरे देश से आया हुआ नारद और राजा का पुत्र वसु ये तीन छात्र पढ़ते थे। एक दिन ये तीनों छात्र कुशा आदि लाने के लिये गुरू के साथ वन में गये थे। वहाँ एक पर्वत की शिला पर 'श्रुतधर' नाम के गुरू विराजमान थे।

अन्य तीन मुनि उन श्रुतधर मुनिराज से अष्टांग निमित्तज्ञान का अध्ययन कर रहे थे। अध्ययन पूर्ण होने पर तीनों मुनि गुरू की स्तुति कर विनय से बैठ गये और श्रुतधर मुनि ने उनकी परीक्षा के लिए प्रश्न किया कि–"जो ये तीन छात्र बैठे हैं इनमें किसका क्या नाम है? क्या कुल है? क्या अभिप्राय है? और अन्त में किसकी क्या गति होगी? यह सब आप लोग कहें।" उनमें से एक मुनि ने कहा कि यह जो राजा का पुत्र वसु है वह तीव्र रागादि परिणामों से दूषित है, हिंसारूप धर्म का निश्चय करके नरक जावेगा। दूसरे मुनि ने कहा कि जो यह ब्राह्मण का लड़का पर्वत है वह निर्बुद्धि क्रूर है यह 'महाकाल' के उपदेश से अथर्ववेद नामक पापप्रवर्तक शास्त्र का अध्ययन कर खोटे मार्ग का उपदेश देगा और हिंसा में धर्म बतलाकर हिंसा के पाप से नरक जायेगा। तीसरे मुनि ने कहा कि जो यह पीछे बैठा है इसका नाम नारद है। यह जाति का ब्राह्मण है, बुद्धिमान है, धर्म ध्यान का उपदेश देगा, आगे चलकर 'गिरितट' नामक नगर का राजा होगा और अंत में परिग्रह छोड़कर तपस्वी होकर अन्तिम अनुत्तर विमान में उत्पन्न होगा। इस प्रकार से तीनों मुनियों के वचन सुनकर गुरूदेव अत्यधिक प्रसन्न हुए।

इधर एक वृक्ष के आश्रय में बैठे क्षीरकदंब उपाध्याय ने यह सब सुन लिया और बहुत ही दुःखी हुआ। पुनः दीक्षित होकर तपश्चरण करने लगा। एक वर्ष बाद राजा विश्वावसु 'वसु' को राज्यपद देकर तपोवन को चले गये। इधर समस्त शास्त्रों का जानने वाला पर्वत भी पिता के स्थान पर बैठकर सब प्रकार की शिक्षाओं की व्याख्या में प्रेम करने लगा। उसी नगर में सूक्ष्मबुद्धि वाला नारद भी अनेक विद्वानों के साथ निवास करता था और शास्त्रों की व्याख्या द्वारा यश प्राप्त करता था।

किसी एक दिन साधुओं की सभा में 'अजैर्होतव्यं' इस वाक्य का अर्थ निरूपण करने में बड़ा भारी विवाद चल पड़ा। नारद कहता था कि जिसमें अंकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो गई है ऐसा तीन वर्ष का पुराना जौ 'अज' कहलाता है और उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि में आहुति देना यज्ञ कहलाता है। नारद का यह व्याख्यान गुरू परम्परा के अनुसार निर्दोष था। फिर भी पर्वत कहता था कि 'अज' शब्द एक पशु विशेष का वाचक है अतः उससे बनी हुई वस्तुओं के द्वारा अग्नि में होम करना यज्ञ कहलाता है। इन दोनों की

बातें सुनकर उत्तम प्रकृति वाले पुरुष नारद की प्रशंसा करने लगे कि यह पर्वत नारद से ईर्ष्या करके ही प्राणी-वध को धर्म कह रहा है। सबने पर्वत का तिरस्कार किया। सबके द्वारा बाहर निकाला गया पर्वत मानभंग से वन में चला गया। वहाँ महाकाल नाम का वह असुर ब्राह्मण के वेष में घूम रहा था। महाकाल ने पर्वत से पूछा कि तुम कहाँ से आये हो? पर्वत ने भी प्रारम्भ से लेकर सारा वृत्तान्त इस ब्राह्मण वेशधारी असुर को सुना दिया। यह सुनकर महाकाल ने यह निर्णय कर लिया कि यह हमारे शत्रु के वंश को निर्वंश करने में समर्थ है और उसने कहा कि–"देखो! तुम्हारे पिता ने और मैंने एक गुरू के पास विद्याध्ययन किया है अतः वे मेरे साधर्मी भाई हैं, तुम डरो मत, मैं तुम्हारा सहायक हूँ। इस प्रकार महाकाल ने पर्वत की इष्ट सिद्धि के लिए अथर्ववेद सम्बन्धी साठ हजार ऋचाएँ पृथक्-पृथक् बनाईं और पर्वत को उनका अध्ययन कराया और कहा कि पूर्वोक्त मंत्रों से यदि अग्नि में पशुओं की हिंसा की जाये तो इष्टफल प्राप्त होगा। तदनन्तर उन दोनों ने विचार-विमर्श करके अयोध्या में जाकर यज्ञ द्वारा अपना प्रभाव फैलाना शुरू किया।

महाकाल ने अपने क्रूर असुरों को बुलाकर अयोध्या में तीव्र ज्वर आदि कराकर पीड़ा उत्पन्न करा दी और स्वयं पर्वत के साथ राजा सगर के पास जाकर बोला कि–"हे राजन्! मैं आपके राज्य के इस घोर अमंगल को मंत्र सहित यज्ञ विधि द्वारा शीघ्र ही शान्त कर दूँगा। विधाता ने पशुओं की सृष्टि यज्ञ के लिए ही की है।" इत्यादि अनेक प्रकार के शब्दों से राजा को विश्वास दिलाकर पापी ने कहा कि–"तुम यज्ञ की सिद्धि के लिये साठ हजार पशुओं का तथा यज्ञ के योग्य अन्य पदार्थों का संग्रह करो।" राजा सगर ने भी सभी वस्तुएँ उसके लिए मँगा दीं।

इधर पर्वत ने यज्ञ प्रारम्भ कर प्राणियों को मंत्रित कर-करके यज्ञ में डालना शुरू किया। उधर महाकाल नामक असुर ने विक्रिया से प्राणियों को विमान में बिठा-बिठाकर शरीर सहित आकाश में जाते हुए दिखलाया और लोगों को विश्वास दिला दिया कि ये सब पशु स्वर्ग गये हैं और उसी समय उसने देश के सब अमंगल और उपसर्ग दूर कर दिये। यह देख बहुत से भोले प्राणी उसकी माया से मोहित हो गये और स्वर्ग को प्राप्त करने की इच्छा से यज्ञ में मरने की इच्छा करने लगे। यज्ञ के समाप्त होने पर उस दुष्ट पर्वत ने

विधिपूर्वक एक उत्तम जाति का घोड़ा तथा राजा की आज्ञा से उसकी सुलसा नाम की रानी को भी होम दिया। प्रिय स्त्री के वियोग से शोक से दग्ध हुआ राजा सगर अत्यधिक चिंतित होता हुआ, इसमें संशय करने लगा कि यह प्राणी हिंसा धर्म है या अधर्म? राजा संशय करता हुआ मतिवर नामक मुनि के पास गया और नमस्कार करके उनसे पूछा–"हे स्वामिन्! मैंने जो कार्य प्रारम्भ किया है उसका फल पुण्यरूप है या पापरूप?" मुनिराज ने उसे अहिंसा धर्म का उपदेश दिया और कहा कि यह पाप कार्य सप्तम पृथ्वी को भेज देगा, इत्यादि। मुनि के वचनों को सुनकर राजा सगर ने आकर ज्यों-की-त्यों पर्वत से कह दिया। पर्वन ने कहा कि वह नंगा साधु कुछ नहीं जानता और महाकाल ने पुनः विमान में बैठे हुए सुलसा रानी को और सभी पशुओं को देव पर्याय प्राप्त किये हुए दिखाया। इस माया से वंचित होता हुआ वह राजा पुनः पाप में ही प्रवृत्त हो गया और मरकर सातवें नरक में चला गया। अत्यन्त दुष्ट महाकाल असुर भी तीव्र क्रोध करता हुआ उसे और अधिक दण्ड देने के लिये नरक में गया। तीसरे नरक तक न पाकर, तथा वह सातवें नरक गया है ऐसा समझकर वापस आ गया। असुर ने विश्वभू आदि मंत्रियों को भी यज्ञ में मारने के अभिप्राय से माया से राजा सगर, रानी सुलसा आदि को विमान में बैठे हुए सुखी होते हुए दिखाया।

इधर यह सब यज्ञ कार्य हो रहा था उधर नारद तथा अन्य तपस्वियों ने जब यह समाचार सुना तो वह इस कार्य की निंदा करके बार-बार धिक्कारने लगे और सभी को धर्म मार्ग का सच्चा उपदेश देने लगे। पापभीरू नारद ने कहा कि–"मंत्रिन्! राजा सगर को निर्मूल नष्ट करने की इच्छा से किसी पापी मायावी ने यह सब काण्ड रचा है।" इत्यादि रूप से बहुत समय तक इन लोगों का वाद-विवाद चलता रहा। अंत में सब लोग कहने लगे कि यदि राजा वसु के द्वारा तुम दोनों का विवाद समाप्त होता है तो वहाँ चला जाये। ऐसा कहकर सब लोक "स्वस्तिकावती" नगरी में आ गये।

पर्वत की कही हुई बातों को सुनकर उसकी माता पर्वत को साथ लेकर राजा वसु के पास गई और बोली–"राजन्! तपोवन को जाते समय मेरे पति ने (उपाध्याय क्षीरकदंब ने) इस निर्धन बालक की रक्षा करने के लिये आपसे कहा था। आज तुम्हारी अध्यक्षता में शास्त्रार्थ में यदि यह पर्वत नारद से

पराजित हो गया तो इसका मरण ही निश्चित है।'' राजा ने आदर से कहा कि– ''हे गुरूमातः! तुम चिंता मत करो, मैं पर्वत को ही जिताऊँगा।''

राजा वसु स्फटिक के पायों पर खड़े हुए राज सिंहासन पर आरूढ़ था और लोग कहते थे कि राजा वसु सत्यवादी धर्मात्मा हैं अतः पुण्य के प्रभाव से उनका सिंहासन आकाश में अधर है। सब लोक राजा की सभा में शास्त्रार्थ देखने के लिये आ गये। राजा वसु यद्यपि अहिंसा को ही धर्म मानता था परन्तु गुरूपत्नी के कहे अनुसार मोह से युक्त होकर कहने लगा कि–''पर्वत जो कहता है वही सत्य है। वही स्वर्ग का साधन है। उसी समय आकाश में मेघ गरजने लगे, रक्त की वर्षा होने लगी, अनेकों अनर्थ होने लगे और राजा वसु का सिंहासन पाप के भार से पृथ्वी में धंसने लगा। यह देखकर आकाश में खड़े हुए देव, विद्याधर आदि कहने लगे कि–''राजा वसु! सनातन धर्म का उल्लंघन कर धर्म के विध्वंसक मार्ग का निरूपण मत करो।'' पृथ्वी में सिंहासन के धंसने से राजा वसु भी डरा किन्तु महाकाल असुर ने वसु के सिंहासन को विक्रिया के बल से ऊपर उठाकर दिखा दिया और राजा वसु ने पुनः यही कहा कि पर्वत के वचन सत्य हैं और मरकर सातवें नरक में चला गया। अनन्तर भी वह असुर जगत को विश्वास दिलाने के लिए सगर और वसु का सुन्दर रूप धारण कर कहने लगा कि हम दोनों नारद का कहना न मानकर यज्ञ विधि से ही स्वर्ग को प्राप्त हुए हैं। इस घटना से विद्वानों को बहुत ही आश्चर्य और शोक हो रहा था।

किसी दिन 'दिनकर' नामक विद्याधर ने नारद से कहा कि इस समय पर्वत हिंसा में धर्म बतलाकर महान् अनर्थ कर रहा है। आपको इसे रोकना चाहिये। विद्याधर ने भी नारद को आश्वासन देकर अपनी विद्या से गांधारपन्नग नामक नागकुमार देवों को बुलाया और कहा कि तुम लोग इस पापवर्धक यज्ञ में विघ्न उत्पन्न करो। दिनकर विद्याधर की बात सुनकर इन देवों ने भी संग्राम में असुरों को पराजित कर दिया और यज्ञ में विघ्न मचा दिया। विश्वभू मंत्री और पर्वत यज्ञ में विघ्न देख शरण की खोज करने लगे। अनायास ही वह महाकाल असुर आ गया और उसने कहा कि नाग विद्याओं का निरूपण विद्यानुवाद में है। जहाँ जिनबिम्ब होते हैं वहाँ इन देवों की शक्ति नहीं चलती है इसलिये तुम चारों दिशाओं में जिनेन्द्र भगवान की सुन्दर प्रतिमाएँ रखकर उनकी पूजा करो और तदनन्तर यज्ञ प्रारम्भ करो। इस महाकाल की उपाय

विधि से इन दुष्टों ने यज्ञ प्रारम्भ किया। विद्याधरों का राजा दिनकर यज्ञ में विघ्न करने की इच्छा से आया और जिन प्रतिमाएँ देखकर नारद से कहने लगा कि यहाँ मेरी विद्यायें नहीं चल सकतीं। ऐसा कहकर वह विद्याधर अपने स्थान को चला गया। इस तरह वह यज्ञ निर्विघ्न समाप्त हुआ और विश्वभू मंत्री तथा पर्वत दोनों ही आयु के अन्त में मरकर नरक में चले गये।

अन्त में महाकाल असुर अपना अभिप्राय पूरा कर अपने असली रूप में प्रगट हुआ और कहने लगा कि मैं पूर्व भव में पोदनपुर का राजा मधुपिंगल था। मैंने ही इस तरह सुलसा के निमित्त से यह बड़ा भारी पाप किया है। जिनेन्द्र भगवान ने जिस अहिंसा लक्षण धर्म का निरूपण किया है धर्मात्माओं को उसी का पालन करना चाहिये। इतना कहकर वह अंतर्हित हो गया और दया से आर्द्रबुद्धि होकर उसने अपनी दुष्ट चेष्टाओं का प्रायश्चित स्वयं ग्रहण किया। हिंसा-धर्म में प्रवृत्त रहने वाले विश्वभू आदि समस्त लोग पाप के कारण नरक गति में गये और पाप से डरने वाले कितने ही लोगों ने सम्यग्ज्ञानी मुनियों के द्वारा धर्मोपदेश सुनकर पर्वत के द्वारा कहा मिथ्या मार्ग स्वीकार नहीं किया और जिनका संसार दीर्घ था ऐसे कितने ही लोग उसी मिथ्यामार्ग में स्थित रहे आये। उन वेदों में आज भी कहीं-कहीं हिंसा में धर्म का उपदेश मिलता है जो कि सर्वथा त्याज्य है और दयामयी धर्म की शरण लेना ही योग्य है। इस प्रकार हिंसा में धर्म को कहकर हिंसक यज्ञ की उत्पत्ति का वर्णन किया है।

सुधेश–यह घटना हृदय को द्रवित कर देने वाली है। सचमुच में इस भूतल पर पाप का उपदेश देने वाले अनादिकाल से सुलभ हैं किन्तु सच्चे धर्म के उपदेशक ही दुर्लभ हैं पुनः यह तो बताइये कि वेदों के आधार से क्या हिंसा में धर्म आज भी लोग मानते हैं?

पिताजी–बेटा सुधेश! आज भी कुछ अज्ञानी लोग वैसा विश्वास कर लेते हैं किन्तु विद्वान् लोग इन वेदों के विषय में ऊहापोह करने लगे हैं। एक बार नवभारत टाइम्स में मैंने पढ़ा था–हरिद्वार में 11 नवम्बर 1976 में विद्वत् गोष्ठी का पंचदिवसीय सम्मेलन हुआ। वहाँ यह निर्णय हुआ कि ''पशुबलियज्ञ सर्वथा वेद विरुद्ध है।''

गोष्ठी का आयोजन विश्ववेद परिषद के तत्त्वावधान में चौधरी प्रतापसिंह के ट्रस्ट के सहयोग से हुआ था।

गोष्ठी में यह अनुभव किया गया कि पाश्चात्य तथा अन्य कुछ विद्वानों द्वारा फैलाई गई इस भ्रांति को दूर करने की प्रबल आवश्यकता है कि अश्वमेध, गोमेध, अजमेध इत्यादि शब्दों में बलि चढ़ाने का भाव है। वेद विषयक अन्य भ्रांतियाँ जैसे अनेकेश्वरवाद, बहुविवाह, अथर्ववेद,जादू-टोनों का वेद है, वेदों में माँस भक्षण, सुरापान आदि की अनुमति है इत्यादि को भी दूर करने के लिए विशेष प्रयत्न आवश्यक हैं।

इस गोष्ठी का यह स्पष्ट मत था कि ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्रादि ग्रन्थों में यदि कहीं पशु हिंसात्मक यज्ञों का वर्णन पाया जाता है तो उन्हें वेद-विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक और त्याज्य तथा प्रक्षिप्त ही समझना चाहिये।

इस गोष्ठी का उद्घाटन करते हुए प्रकाण्ड विद्वान् श्री विश्वनाथ विद्यामार्तण्ड ने पाश्चात्य विद्वानों की वेद विषयक परस्पर विरुद्ध स्थापनाओं का उल्लेख किया तथा भारतीय विद्वानों द्वारा उनके निराकरण की आवश्यकता पर बल दिया।

स्वामी धर्मानन्द विद्यामार्तण्ड अध्यक्ष, विश्ववेद परिषद ने गोमेध, अश्वमेध, अजमेध आदि शब्दों का भी विवेचन किया। उन्होंने कहा कि गोमेध का अर्थ वाणी को व्याकरण शास्त्र के द्वारा पवित्र करना है।

गोष्ठी में आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री, श्री सत्यव्रत राजेश, पं. उदयवीर शास्त्री, आचार्य प्रियव्रत, पं. ताराशंकर राकेश आदि विद्वानों ने भाग लिया।[1]

सुधेश—पिताजी! इससे तो अहिंसा धर्म ही विजयी हो रहा है।

पिताजी—हाँ, सुधेश इस अहिंसा धर्म को जगत् में सभी लोग अच्छा ही मानते हैं, कोई भी बुरा नहीं कह सकते हैं।

सरस्वती मंत्र

ॐ ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः।

1. नवभारत टाइम्स 12 नवम्बर 1976 से साभार

सच्ची छाया में विश्राम करो

अरिंजय—आओ भाई प्रद्युम्न कुमार, चलो चलें, बगीचे में सुन्दर वृक्ष की छाया में बैठकर विश्रान्ति करें।

प्रद्युम्न—भाई अरिंजय! इन गर्मियों की छुट्टियों में ऐसी जगह चलना चाहिये जहाँ सच्ची छाया में लोग विश्राम कर रहे हों।

अरिंजय—अरे! सच्ची छाया क्या है? कैसी होती है? जरा बताओ तो सही!

प्रद्युम्न—सुनो मित्र! चारित्ररूपी वृक्ष बहुत ही सघन है, उसकी छाया में बैठने वाले सच्ची छाया में बैठने वाले हैं।

अरिंजय—इस चारित्र वृक्ष की जड़ क्या है?

प्रद्युम्न—व्रतों का समुदाय इसकी जड़ है।

अरिंजय—व्रत क्या हैं?

प्रद्युम्न—पाँच महाव्रत व्रत कहलाते हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाँचों पापों का जीवन भर के लिये सम्पूर्णतया त्याग कर देना, पाँच महाव्रत हैं। ये महान् इसलिये हैं कि इन्हें तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुष धारण करते हैं अथवा इसके धारण करने से जीव महान्—उत्कृष्ट मोक्ष पद को भी प्राप्त कर लेते हैं अथवा लोक में भी इनके पालन करने वाले महान्—पूज्य बन जाते हैं। इसलिये ये महाव्रत कहलाते हैं।

अरिंजय—वृक्ष में तना रहता है, सो यहाँ चारित्र वृक्ष में कैसा तना है?

प्रद्युम्न—संयमरूपी स्कंध—तना है।

अरिंजय—संयम क्या है?

प्रद्युम्न—पाँच इन्द्रिय और मन को वश में रखना अर्थात् पंचेन्द्रिय के विषयों से अपने को हटाना और मन को आर्त-रौद्र ध्यान में नहीं जाने देना तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति इन पाँच स्थावरकायिक और त्रसकायिक इन छहकायिक जीवों की रक्षा करना—दया पालना, ये बारह प्रकार का संयम है।

अरिंजय—यह वृक्ष बढ़ता कैसे है?

प्रद्युम्न—यम और नियमरूपी जल से सींचने से यह बढ़ता है।

अरिंजय—यम-नियम क्या है?

प्रद्युम्न—किसी भी चीज का जीवन भर को त्याग कर देना यम है और थोड़े-थोड़े दिन के लिए त्याग करना नियम है। जैसे—हमने आलू का जीवन

भर को त्याग कर दिया है और अभी फाल्गुन की अठाई में आठ दिन नमक का त्याग कर दिया था, यही यम-नियम हैं।

अरिंजय–इसमें शाखाएँ कैसी हैं?

प्रद्युम्न–इसमें शीलरूपी शाखाएँ हैं।

अरिंजय–यह शील क्या है?

प्रद्युम्न–जो खेत के बाढ़ के समान संयम की रक्षा करते हैं, वे शील कहलाते हैं। मुनियों के 12 तप, 22 परीषहजय आदि शील हैं।

अरिंजय–वृक्ष में कलियाँ रहती हैं?

प्रद्युम्न–इस वृक्ष में समितिरूपी कलियाँ लगी हुई हैं।

अरिंजय–समिति क्या है?

प्रद्युम्न–सम्यक् प्रकार से प्रवृत्ति करना समिति है। इसके पाँच भेद हैं–ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और उत्सर्गसमिति। सूर्य के प्रकाश में चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना ईर्यासमिति है। ऐसे ही हित-मित वचन बोलना, 46 दोष और 32 अंतराय टालकर निर्दोष आहार लेना, पिच्छी-कमण्डलु आदि को देख-शोधकर धरना-उठाना और प्रासुक भूमि में मल-मूत्रादि को छोड़ना, ये इनके लक्षण हैं।

अरिंजय–वृक्ष में नई-नई कोपलें निकलती रहती हैं।

प्रद्युम्न–इसमें गुप्तिरूपी सुन्दर-सुन्दर कोपलें लगती रहती हैं।

अरिंजय–गुप्ति क्या है?

प्रद्युम्न–अपने-अपने व्यापार से मन, वचन, काय को सर्वथा रोक करके ध्यान में लगा देना सो गुप्ति है। मन को आर्तादि ध्यान से हटाकर एकाग्रपूर्वक आत्मा में या पंचपरमेष्ठी में स्थिर करना, वचन को रोकना और काय को स्थिर करना, ये तीन गुप्तियाँ हैं।

अरिंजय–वृक्ष में फूल रहते हैं?

प्रद्युम्न–इसमें भी गुणरूपी पुष्पों की सुगन्धि फैल रही है।

अरिंजय–गुण क्या है?

प्रद्युम्न–धर्मामृत को स्वयं पीना, दूसरों को पिलाना, पर की निन्दा नहीं करना आदि असंख्य गुण हैं। उनकी सुगन्धि दशों-दिशाओं में क्या, तीन लोक तक फैल रही है।

अरिंजय–अभी तक यह नहीं समझ में आया कि इसमें पत्ते क्या हैं?

प्रद्युम्न–सम्यक् प्रकार के तप ही इसमें पत्ते हैं।

अरिंजय–यह तप क्या है?

प्रद्युम्न–जो अंतरंग और बहिरंग कर्ममल को दूर करने के लिए और आत्मा को शुद्ध करने के लिए तपा जाता है, वह तप है। उनके 12 भेद हैं–अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन और कायोत्सर्ग ये 6 बाह्य तप हैं तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छह अन्तरङ्ग तप हैं।

अरिंजय–ओहो! विनय, वैयावृत्ति और स्वाध्याय भी तप हैं। कितनी अच्छी बात बताई। अच्छा भाई! अब यह बताओ कि इसमें फल क्या हैं?

प्रद्युम्न–ये मोक्षरूपी फल को देने वाला है।

अरिंजय–तब तो यह वृक्ष बहुत ही सुन्दर है। अच्छा इसमें छाया क्या है?

प्रद्युम्न–यह दयारूपी छाया से शोभायमान हो रहा है अर्थात् इस वृक्ष से सभी जीवों की दया होती है। वही इसकी छाया है।

अरिंजय–यह किसके खेद को दूर करता है?

प्रद्युम्न–यह शुभजन–महासाधुओं के खेद को दूर करने में समर्थ है।

अरिंजय–यह किस ताप को रोकता है?

प्रद्युम्न–यह घोर पापरूपी सूर्य के आतप–घाम का अन्त कर देता है अर्थात् पापरूपी सूर्य के घाम को रोक देता है। ऐसा यह चारित्र वृक्ष हम सभी के संसार के दुःखों को दूर करने वाला होवे।

अरिंजय–भाई प्रद्युम्न! सचमुच में इस वृक्ष की छाया ही सच्ची छाया है। अच्छा यह बताओ कि इस छाया में आजकल कौन बैठे हुए हैं क्योंकि हम लोग तो इस वृक्ष की छाया से बहुत दूर हैं।

प्रद्युम्न–भाई अरिंजय! इस वृक्ष की छाया में महामुनिराज ही बैठते हैं। आजकल भी आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज की शिष्य परम्परा में बहुत से साधु हैं, बड़े-बड़े संघ हैं। इसीलिये मैंने कहा था कि जो सच्ची छाया में विश्राम कर रहे हैं उनके चरणों की छाया में हम लोगों को भी चलना चाहिये। हमारे पिताजी के मित्र का तो नियम है कि प्रतिवर्ष आचार्यश्री के संघ में एक महीना जाकर आहार दान देना और उनके मुख-कमल से धर्म चर्चा का लाभ

लेना। वे कहा करते हैं कि हमारे लिए तीर्थयात्रा यही है।

अरिंजय—क्या आजकल पंचम काल में भी सच्चे मुनि होते हैं?

प्रद्युम्न—हाँ, अवश्य होते हैं। देखो! श्री कुन्दकुन्ददेव, उमास्वामी, समन्तभद्र स्वामी, श्री अकलंकदेव आदि पंचम काल में ही हुए हैं तथा अभी भी निर्दोष सच्चे साधु हैं और पंचम काल के अन्त तक भी रहेंगे, ऐसा ग्रन्थों में लिखा हुआ है। जो इस बात को नहीं मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं। हाँ, तो इस विषय पर फिर कभी विशेष स्पष्टीकरण करेंगे। अभी तो संघ के दर्शनों का प्रोग्राम बना लो।

अरिंजय—ठीक है, जब आप कहो, तभी मैं तैयार हूँ। हाँ भाई, वहाँ से मैं गुरू के मुख से अर्थ सहित तत्त्वार्थसूत्र पढ़कर आऊँगा।

प्रद्युम्न—बहुत ही सुन्दर बात है। मैं भी साथ में पढ़ूँगा।

जिनेन्द्र भगवान के उपदेश के लाभ का फल

जो जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्त करके मोह, रागद्वेष को नष्ट कर देता है वह अल्पकाल में ही सर्व दुःखों से रहित मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। भाव यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय, फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परम्परा को समझकर अत्यंत कठिनता से प्राप्त होने वाले जिनेन्द्र भगवान के उपदेश को प्राप्तकर व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयरूप तीक्ष्ण खड्ग के द्वारा मोह, रागद्वेष रूप शत्रुओं को मार देता है। वही वीर पुरुष संपूर्ण दुःखों का क्षय करके अनाकुलतारूप, पारमार्थिक सिद्ध सुख को प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिनेन्द्र भगवान के उपदेश का सार यही है कि व्यवहार संयम के द्वारा निश्चय संयम को प्राप्त करके शुद्ध आत्मस्वरूप का अनुभव करना। यदि सम्यग्दर्शन, ज्ञान को प्राप्त करके भी जीव संयमी नहीं हुआ और रागद्वेष मोह का नाश नहीं किया तो पुनः अत्यंत दुर्लभ जिनेन्द्रदेव के उपदेश रूप चिंतामणि को प्राप्त करके भी वह इच्छित फल रूप मोक्ष को नहीं प्राप्त कर सका। अतः जिनोपदेश का फल मुक्ति को प्राप्त कर लेना है और उसके लिए संयम ही प्रधान कारण है। ऐसा समझना।

—प्रवचनसार

कुल सर्वश्रेष्ठ है

शरद—प्रदीप भैया! कोई भी मनुष्य अपने कार्यों से महान बनता है न कि कुल से। अतः किसी के कुल को जानने की क्या आवश्यकता है?

प्रदीप—नहीं शरद, सर्वथा ऐसी बात नहीं है। जैनधर्म में कुल का विशेष ही महत्त्व कहा गया है।

शरद—कहाँ पर कहा है?

प्रदीप—सुनो, मैं तुम्हें एक ऐतिहासिक कथा सुनाता हूँ।

राजा वज्रजंघ बहन सीता के पुत्र लवण और अंकुश को विवाह योग्य देखकर उनके लिये योग्य कन्याओं के विषय में विचार करने लगे। सो प्रथम ही उन्होंने अपनी सुपुत्री शशिचूला को व अन्य बत्तीस कन्याओं को बड़े पुत्र लवण के लिये देना निश्चित किया। वे दोनों पुत्रों का विवाहमंगल एक-साथ देखना चाहते थे अतः वे मदनांकुश के लिये योग्य कन्या के बारे में सोचने लगे पुनः उन्होंने निर्णय किया कि पृथ्वी नगर के राजा पृथु की कन्या कनकमाला इस पुत्र के योग्य है जो कि शशिचूला के समान सर्वगुण सम्पन्न है।

राजा वज्रजंघ स्वयं पृथ्वी नगर की तरफ आधे मार्ग तक जाकर ठहर गये और एक कुशल दूत उनके पास भेजकर आदर से कन्या की याचना की। दूत ने वहाँ पहुँचकर यथोचित विनय के अनन्तर अपने कार्य का निवेदन किया। पृथु महाराज एकदम भड़क उठे। उन्होंने कहा कि—अरे दूत! यद्यपि तूने पाप वचनों का उच्चारण किया है अतः तू निग्रह करने योग्य है। फिर भी, मैं समझता हूँ कि तू तो पराधीन होकर स्वामी के वचनों का ही अनुवाद करने वाला है अतः इसमें तेरा क्या दोष है? तू शीघ्र ही यहाँ से भाग जा। अरे! क्या तुझे मालूम नहीं है कि यद्यपि कुल, शील, धन, रूप, समानता, बल, अवस्था, देश और विद्यागम ये नौ वर के गुण कहे गये हैं तथापि उत्तम पुरुष उन सबमें एक कुल को ही श्रेष्ठ मानते हैं, शेष गुण हों तो ठीक है, न हों तो ठीक। परन्तु वही कुल नाम का गुण जिस वर में न हो, उसे अपना कन्यारत्न कैसे दिया जा सकता है?"

दूत वापस जाकर राजा वज्रजंघ से सर्व समाचार स्पष्ट कह देता है। इतना सुनते ही वज्रजंघ क्रोध से आकुल होकर युद्ध के लिए तत्पर हो जाते

हैं। पृथ्वीनगर के रक्षक व्याघ्ररथ राजा को जीतकर उसे बंधन में डाल देते हैं और देश को उजाड़ने में कटिबद्ध हो जाते हैं। इसी बीच राजा पृथु अपने पक्ष के राजाओं को सूचना भेजकर बुलाता है और इधर वज्रजंघ महाराज भी अपने पुत्रों को बुलाने के लिए पुंडरीकपुर में कुशल पुरुषों को भेज देते हैं।

पिता की आज्ञा से राजपुत्र युद्ध के लिये भेरी बजवा देते हैं। उस समय अतीव कोलाहल देखकर लवण-अंकुश पूछते हैं कि अकस्मात् यह क्या है? तदनन्तर सारे रहस्य को जानकर "और यह भयंकर युद्ध का विस्तार मेरे निमित्त ही है" ऐसा समझकर वे दोनों कुमार भी युद्ध के लिए जाने को तैयार हो गये। सभी राजपुत्रों ने व रानियों ने इन्हें बहुत ही रोका परन्तु उन्होंने सबके वचन अनसुने कर दिये। सीता ने पुत्रस्नेह से विह्वल होकर कहा–"पुत्रों! अभी तुम्हारा युद्ध के योग्य समय नहीं है, महारथ की धुरी में क्या बछड़े जोते जाते हैं?"

पुत्रों ने उत्तर दिया–"मातः! आपने ऐसा क्यों कहा? इसमें वृद्धजनों की क्या आवश्यकता है? पृथ्वी तो वीरभोग्या है। महावन को जलाने के लिए क्या अग्नि को महाकाय होना चाहिये? इत्यादि साहसपूर्ण वचनों से सीता के नेत्र सजल हो गये अर्थात् सीता को पुत्रों की वीरता से हर्ष भी हुआ और युद्ध की विभीषिका से कुछ शोक भी हुआ।

अनन्तर स्नान, भोजन आदि से निवृत्त होकर दोनों कुमारों ने प्रस्थान के समय सिद्ध परमेष्ठी को मन, वचन, काय से नमस्कार किया पुनः माता को नमस्कार कर मंगलाचारपूर्वक घर से निकल पड़े। छह दिन में पृथ्वीनगर पहुँचकर वज्रजंघ मामा के पास पहुँचे। अनेक राजाओं से घिरे हुए उन कुमारों ने युद्ध भूमि में अपने शौर्यगुण को प्रकट किया। पृथु राजा की सारी सेना तितर-बितर हो गयी। पराजित हो राजा पृथु भागने के लिए उद्यत हुए। ऐसा देखकर उन कुमारों ने उनका पीछा किया और बोले–"अरे नीच नर पृथु! अब व्यर्थ ही कहाँ भाग रहा है? जिनके कुल और शील का पता नहीं, ऐसे ये हम दोनों आ गये। जिनके कुल और शील अज्ञात हैं ऐसे हम लोगों के पास से भागता हुआ तू लज्जित क्यों नहीं होता? ठहर, अभी हम दोनों अपने बाणों के द्वारा ही तुझे अपने कुल, शील का परिचय करा देते हैं। तू सावधान होकर खड़ा हो जा अन्यथा बलपूर्वक रोका जायेगा।

इन वचनों को सुनकर पृथु राजा ने वापस लौटकर हाथ जोड़कर कहा–"हे वीरों! मेरा अज्ञानजनित दोष क्षमा करने के योग्य है। जिस प्रकार सूर्य के तेज को कुमुद समूह नहीं समझ सकते, वैसे ही आप लोगों का माहात्म्य मेरी बुद्धि में नहीं आया। वास्तव में धीर-वीर मनुष्य अपने कुल और शील का परिचय ऐसे ही देते हैं, न कि वचनों से। ऐसे कौन मनुष्य हैं कि जो अग्नि को प्रज्ज्वलित होती हुई देखकर "यह वन को जलाने में समर्थ है" ऐसा निर्णय न कर सके? आप दोनों परम धीर उच्च कुल में उत्पन्न एवं इच्छित सुख देने वाले हमारे स्वामी हो.....।"

इस बात को सुनकर दोनों कुमार नतमस्तक और शान्तमुख हो गये। उनका सारा क्रोध समाप्त हो गया। उसी समय राजा वज्रजंघ आदि प्रधान राजा आ गये और दोनों वीरों की पृथु राजा के साथ मित्रता करा दी। सो ठीक है–

प्रणाममात्रतः प्रीता जायंते मानशालिनः।
नोन्मूलयंति नद्योघा वेत्तसान् प्रणतात्मकान्।।

मानशाली मनुष्य प्रणाममात्र से प्रसन्न हो जाते हैं, सो ठीक ही है क्योंकि नदियों के प्रवाह नम्रीभूत वेतस के पौधों को नहीं उखाड़ते।

तदनन्तर राजा पृथु ने बड़े वैभव के साथ दोनों वीरों का नगर में प्रवेश कराया और बड़े हर्ष से पुत्री कनकमाला कन्या वीर मदनांकुश के लिए देना निश्चित किया। ये दोनों वीर वहाँ एक रात्रि रहकर पुनः सुह्म, अंग, बंग, मगध आदि देश के राजाओं से घिरे हुए आगे अनेक नगरों को जीतने के लिए निकल पड़े। वे कोकाक्ष, लोकाक्ष, लंपाक, देशों के राजाओं को अपने आधीन कर भाषकुंतल, कालांबु, नंदी, नंदा, सिंहल, शलभ, अनल, चौल, भीम तथा भूतल देशों के राजाओं को जीता। पुनः वे पुर, खेट, मटंब आदि देशों को जीतकर आगे बढ़े। भीरू, यवन, कक्ष, चारू, त्रिजट, नट, शक, केरल, नेपाल, मालव, आरुल, शर्बर, वृषाण, वैद्य, काश्मीर, हिडिम्ब, अवष्ट, बर्वर, त्रिशिर, पारशैल, गौशील, उशीनगर, सूर्यारक, सनर्त, खश, विंध्य, शिखापद, मेखल, शूरसेन, बाल्हीक, उलूक, कौशल, दरी, गांधार, सौवीर, पुरी, कौबेर, कोहर, अन्ध्र, काल और कलिंग इत्यादि देशों के राजाओं को अपने वश में कर लिया। किन्हीं को तो संग्राम में जीतकर और किन्हीं को अपने प्रतापमात्र से अपनी आधीनता प्राप्त कराई। इस तरह वे दोनों कुमार अनेक हजार बड़े-बड़े राजाओं के ऊपर स्थित हुए।

पुनः महावैभव से संयुक्त हुए वे कुमार सर्वत्र अपनी विजयपताका को फहराते हुए वापस पुंडरीकपुर में आ गये। नगर में महा-महोत्सव मनाया गया। पुत्रों ने महल में प्रवेश कर माता सीता के चरण कमलों में नमस्कार किया।

कृतकृत्य होकर पास आये हुए पुत्रों को देखकर सीता मानों अमृत-समुद्र में डूब गयीं। उन्होंने अतीव स्नेह से आर्द्र हो पुत्रों को आशीर्वाद दिया और उनके मस्तक पर हाथ फेरकर उन्हें सन्तुष्ट किया।

शरद! इस कथा से तुम समझ गये होंगे कि कुल का कितना महत्त्व है और प्राचीन काल में लोग किसी के कुल, जाति को जाने बिना सम्बन्ध नहीं करते थे। आज के पढ़े-लिखे युवकों को इस अदृश्य योग्यता के महत्त्व को अवश्य ही स्वीकार करना चाहिये अन्यथा शंकर दोष से दूषित कुल परम्परा अधिक दिन नहीं चल सकती, यह निश्चित ही समझ लेना चाहिये।

शरद—प्रदीप भैया! यह कथा हमें बहुत अच्छी लगी। तुम ऐसी-ऐसी सुन्दर कथाएँ हमें सुनाया करो।

प्रदीप—अच्छा! अब कल सुनाएँगे।

विश्वशांति मंत्र

ॐ ह्रीं विश्वशांतिकराय
श्री शांतिनाथाय नमः।

स्वास्थ्य मंत्र

ॐ ह्रीं अर्हं णमो सव्वोसहिपत्ताणं आरोग्य
लाभं कुरु कुरु स्वाहा।

ऐतिहासिक महामुनि

इस युग की आदि में सबसे पहले भगवान ऋषभदेव ने जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की थी। लौकांतिक देवों द्वारा पूजित ऋषभदेव का तप कल्याणक महोत्सव इन्द्र आदि चतुर्निकाय देवों ने मनाया था। भगवान स्वयं दीक्षित हुए थे। चूँकि तीर्थंकर स्वयं ही दीक्षा ग्रहण करते हैं, वे किसी को गुरू नहीं बनाते हैं, वे स्वयं जगत के गुरू हैं। भगवान की दीक्षा के समय नमि, विनमि आदि चार हजार राजाओं ने बिना कुछ समझे ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी। केवल मात्र अपने स्वामी की भक्ति से ही वे लोग मुनि बन गये थे अतः वे सब द्रव्यलिंगी ही थे, भावलिंगी नहीं।

भगवान छह महीने तक योग में खड़े रहे। तब ये सभी साधु क्षुधा-तृषा से पीड़ित होकर तप से भ्रष्ट हो गये और वन के फलादि खाने लगे, कुटिया बनाकर रहने लगे और भस्म लपेटकर जटा बढ़ाकर अनेक वेषधारी बन गये। भगवान योग समाप्त होने पर मुनि मार्ग की परम्परा चलाने हेतु आहार के लिये निकले। दिगम्बर मुनि को आहार देने की विधि से अनभिज्ञ जनता के निमित्त से प्रभु के पुनः छह मास और व्यतीत हो गये। अनन्तर राजा श्रेयांस ने जातिस्मरण हो जाने के निमित्त से विधिवत् प्रभु को आहार दिया। तभी से आहारदान की प्रथा इस युग में प्रगट हुई है। भगवान के समवसरण में मरीचि कुमार के सिवाय सभी भ्रष्ट साधुओं ने दिगम्बरी दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण कर लिया था।

ध्यान का महत्त्व

भगवान बाहुबलि ने दीक्षा लेते ही एक वर्ष का योग धारण कर लिया। वे मनःपर्ययज्ञान आदि अनेक ऋद्धियों के स्वामी हो गये। अनन्तर भरत चक्रवर्ती के द्वारा पूजा करने पर उनके मन का विकल्प समाप्त होते ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। अहो! एक वर्ष तक निश्चल प्रतिमायोग से खड़े रहकर ध्यान करने वाले बाहुबलि भगवान सच्चे जिनकल्पी साधु थे। बेलों से लिपटी हुई और साँप की वामियों से सहित उनकी मूर्ति आज भी दिगम्बर मुनि के तप और त्याग का आदर्श उपस्थित कर रही है।

त्याग का महत्त्व

भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेते ही अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्रगट हो गया था। चूँकि उन्होंने अध्यात्म योग की साधना से और दान, पूजन आदि गृहस्थोचित षट्कर्मों से अपने कर्मों को बहुत ही शिथिल कर डाला था तथा कई भव पहले से मुनि होकर घोर तपश्चरण के बल से उन्होंने अपने को दृढ़ अभ्यस्त बना लिया था। फिर भी इस भव में वस्त्र त्याग और केशलोंच के अनन्तर ही केवलज्ञान हुआ है।

जिनदर्शन का प्रभाव

किसी[1] समय चक्रवर्ती भरत के साथ विवर्द्धन कुमार आदि नौ सौ तेईस राजकुमार ऋषभदेव के समवसरण में पहुँचे। उन्होंने पहले कभी तीर्थंकर के दर्शन नहीं किये थे। वे अनादि मिथ्यादृष्टि थे। अनादि काल से स्थावर कायों में जन्म-मरण कर क्लेश को प्राप्त हुए थे। भगवान की लक्ष्मी देखकर आश्चर्य को प्राप्त होकर उन्होंने अंतर्मुहूर्त में ही संयम ग्रहण कर लिया, दिगम्बर मुनि बन गये।

मुनि के चरणोदक का प्रभाव

श्री रामचन्द्र और सीता ने वनवास के प्रसंग में ऋद्धिधारी मुनियों को आहार दिया। उस समय एक गृद्ध पक्षी को जातिस्मरण हो गया। पंख फड़फड़ाकर गिर पड़ा और मुनि के चरणोदक को पीने लगा। उसके प्रभाव से उसकी काया पलट हो गई। वह सुन्दर रत्नों से निर्मित के समान हो गया। अनन्तर मुनिराज ने उसे सम्यक्त्व और अणुव्रत ग्रहण कराये, जो कि जटायु नाम से प्रसिद्ध हुआ है।

महामुनि द्वारा स्वजनों का उपकार

एक बार रावण दिग्विजय के प्रसंग में नर्मदा नदी के किनारे जिनप्रतिमा विराजमान कर पूजा कर रहा था। दूसरे तट पर माहिष्मती के राजा सहस्ररश्मि रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहे थे। उस निमित्त से जल के प्रवाह से रावण की पूजा में विघ्न आ गया। उसने कुपित हो सहस्ररश्मि को

1. अन्तर्मुहूर्तकालेन प्रतिपन्नसुसंयमाः।
   त्रयोविंशान्यहो चित्रं शतानि नवभिर्बभूः।।
   (हरिवंश पुराण, पर्व 12)

बाँधकर कारावास में डाल दिया। अनन्तर प्रातःकाल सहस्ररश्मि के पिता शतबाहु जो कि दिगम्बर मुनि थे, जिन्हें जंघाचारण ऋद्धि प्राप्त थी, वहाँ आ गये। रावण के द्वारा यथोचित विनय के अनन्तर वे बोले कि – रावण! अब तुम मेरे[1] पुत्र को छोड़ दो। तदनन्तर छोड़ने के बाद सहस्ररश्मि पिता के साथ जाकर, विरक्त हो, जैनेश्वरी दीक्षा लेकर मुनि हो गये। इससे यह भी ध्वनित होता है कि ऋद्धिधारी भावलिंगी महामुनि अपने गृहस्थाश्रम के जनों का भी उपकार किया करते हैं।

आर्यिकाओं की पूजा

दूसरे[2] दिन डेरे से निकल रामचन्द्र ने आर्यिकाओं से सहित जिनमन्दिर देखा। भीतर प्रवेश कर जिनेन्द्र भगवान तथा आर्यिकाओं को नमस्कार किया।..... मन्दिर में सर्वसंघ के साथ जो वरधर्मा नाम की गणिनी थी, रामचन्द्र ने सीता के साथ सन्तुष्टमना उनकी भी पूजा की। आर्यिकाओं का संघ मन्दिर में ठहरता था और बलभद्र आदि महापुरुष उनकी पूजा करते थे, इससे यह स्पष्ट हो जाता है।

महामुनियों का वर्षाऋतु में भी अन्यत्र गमन तथा मन्दिर में मुनियों का आवास

किसी[3] समय ऋद्धिधारी सुरमन्यु आदि सात महामुनि अयोध्या नगरी में

1. पराभिभवमात्रेण क्षत्रियाणां कृतार्थता।
   यतः सहस्रकिरणं ततो मुञ्च ममांगजम्।।147।।
   (पद्मपुराण, पर्व 10)
2. आवासान्निर्गतोऽपश्यदार्यिका जनलक्षितम्।
   जिनेन्द्र भवनं भक्त्या प्रविवेश च सांजलिः।।94।।
   वरधर्माऽपि सर्वेण संघेन सहितापरम्।
   राघवेण ससीतेन नीता तुष्टेन पूजनम् ।।138।।
   (पद्मपुराण, पर्व 37)
3. चतुरंगुलमानेन ते त्यक्तधरणीतलाः।
   आयान्तो द्युतिना दृष्टा लब्धिप्राप्ताः प्रसाधवः।।23।।
   पद्भ्यामेव जिनागारं प्रविष्टाः श्रद्धयोद्धया।
   अभ्युत्थाननमस्यादिविधिना द्युतिनार्चिताः।।24।।
   (पद्मपुराण, पर्व 92)

सेठ अर्हद्दत्त के घर प्रविष्ट हुए। सेठ ने मन में सोचा कि इन मुनियों ने यहाँ वर्षायोग ग्रहण नहीं किया है। पुनः चातुर्मास में कहाँ से और कैसे आ गये? ऐसा सोचकर उसने आहार नहीं दिया। मध्याह्न में मन्दिर में विराजमान 'द्युति' भट्टारक (आचार्य) के मुख से जब मालूम हुआ कि वे ऋद्धिधारी महामुनि थे और स्वयं द्युति आचार्य ने भी उठकर आगे जाकर उनकी वन्दना की थी, तब सेठ को बहुत पश्चात्ताप हुआ। इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋद्धिधारी महामुनि भी जिनमन्दिर निर्माण आदि का उपदेश देते थे तथा मुनियों की प्रतिमा बनवाने का प्रमाण भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

इस उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाशगामी ऋद्धिधारी मुनि वर्षा ऋतु में भी अन्यत्र आहार के लिए जा सकते हैं तथा 'द्युति' आचार्य अपने संघ सहित वहाँ जिनमन्दिर में विराजमान थे। जिससे यह समझना चाहिये कि चतुर्थकाल में भी मुनि मन्दिर में चातुर्मास काल में निवास करते थे।

मुनियों की प्रतिमाएँ

इन्हीं मुनियों के उपदेश से शत्रुघ्न राजा ने सर्वत्र तमाम जिनमन्दिर बनाकर जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाएँ स्थापित करवाई थीं और इन सप्त ऋषियों की प्रतिमाएँ भी बनवाकर चारों दिशाओं में स्थापित कराई थीं। इन मुनियों ने उस समय घर-घर में जिनप्रतिमाएँ विराजमान करने का उपदेश दिया था।[1]

1. स्थाप्यन्तां जिनबिंबानि पूजितानि गृहे गृहे।
अभिषेकाः प्रवर्त्यन्तां विधिना पाल्यतां प्रजाः।।73।।
सप्तर्षिप्रतिमा दिक्षु चतसृष्वपि यत्नतः।
नगर्यां कुरु शत्रुघ्न! तेन शांतिर्भविष्यति।।74।।
अद्य प्रभृति यद्गेहे बिम्बं जैनं न विद्यते।
मारी भक्ष्यति यद्व्याघ्री यथाऽनाथं कुरंगकं।।75।।
यस्यांगुष्ठप्रमाणापि जैनेन्द्री प्रतियातना।
गृहे तस्य न मारी स्यात्ताार्क्ष्यभीता यथोरगी।।76।।
नगर्या बहिरन्तश्च शत्रुघ्नः प्रतिमास्ततः।
अतिष्ठिपज्जिनेन्द्राणां प्रतिमारहितात्मनां।।81।।
सप्तर्षिप्रतिमाश्चापि काष्ठासु चतसृष्वपि।
अस्थापयन्मनोज्ञांगा सर्वेतिकृतवारणाः।।82।।
(पद्म पुराण, पर्व 92)

मुनियों के पड़गाहन का विस्मयप्रद शोर

दीक्षा लेने के बाद भगवान रामचन्द्र पाँच उपवास के अनन्तर पारणा के लिये नंदस्थली नगरी में आये। उस समय उनके रूप को देखकर वहाँ बहुत ही कोलाहल मच गया। पड़गाहन करने वाले भी जोर-जोर से कोलाहल करने लगे। यहाँ तक कि हाथी-घोड़े भी स्तम्भ तोड़कर भागने लगे। फलस्वरूप राजा की आज्ञा से किंकरों ने आकर मुनिराज से कहा कि–"प्रभो! आप राजा के यहाँ चलिये और पड़गाहन करने वालों को हटा दिया।" तब मुनि अंतराय समझकर वन में चले गये और "वन में ही आहार मिलेगा तभी ग्रहण करूँगा" ऐसा नियम ले लिया।

इस उदाहरण से पड़गाहन करने वालों के उमंग का तथा व्रतपरिसंख्यान का आदर्श सामने आता है।

ऋद्धि का प्रभाव

राजा सिंहेन्द्र को मार्ग में सर्प ने डस लिया। तब उसकी स्त्री उन्हें कंधे पर रखकर लाई और ऋद्धिधारी 'मय' नाम के मुनि के पास रख दिया। मुनि ध्यान में स्थित थे। उस रानी ने भक्ति से मुनि[1] के चरणों का स्पर्श करके पति को स्पर्श किया जिससे सिंहेन्द्र का विष उतर गया। इस उदाहरण से सर्वोषधि आदि ऋद्धियों का महत्त्व जाना जाता है।

किसी भी कार्य के प्रारंभ में इष्टदेव का नाम स्मरण करें

आरंभे तु पुराणस्यान्यव्यापाराय कस्यचित्।
"नमः सिद्धेभ्यः" इत्युच्चैर्नम्रीभूतो वदेद्वचः।।

अर्थ–किसी शास्त्र के प्रारंभ में तथा अन्य किसी भी कार्य के प्रारंभ में नम्रता के साथ "ॐ नमः सिद्धेभ्यः" इस पद का उच्चारण करना चाहिए।

1. पादौ मुनेः परामृष्य पत्युर्गात्रं समास्पृशत्।
देवी ततः परिप्राप्तः सिंहेन्दुर्जीवितं पुनः।।182।।
(पद्म पुराण, पर्व 80)

क्या रावण अहिंसक था?

शुभचंद्र–गुरूजी! क्या रावण अहिंसा धर्म को मानने वाला था?

गुरूजी–हाँ, बेटा! वह अहिंसा धर्म का प्रेमी था। जीवों की हिंसा में प्रवृत्त हुए मिथ्यादृष्टियों का बलपूर्वक निग्रह करता था। इसी सन्दर्भ में एक घटना पद्मपुराण में आयी है। उसे तुम सुनो–

जब रावण दिग्विजय करता हुआ इस पृथ्वी पर अपनी सेना के साथ विचरण कर रहा था उस समय वह बड़े-बड़े मानी राजाओं को चरणों में नम्र करते हुए चक्रवर्ती के समान सुशोभित हो रहा था। वह जगह-जगह जीर्ण मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराता जाता था और देवाधिदेव जिनेन्द्रदेव की बड़े भाव से पूजा करता रहता था। धर्म से द्वेष रखने वालों को नष्ट करता था और दरिद्र मनुष्यों को धन से परिपूर्ण कर देता था। सम्यग्दर्शन से शुद्ध जनों की बड़े स्नेह से पूजा करता था और जो वेषमात्र से दिगम्बर मुद्रा के धारक थे ऐसे मुनियों को भी भक्तिपूर्वक नमस्कार करता था। इस प्रकार से वह उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान करता हुआ राजपुर नामक नगर के समीप पहुँचा और वहाँ के राजा मरुत्वान् के पास अपना दूत भेज दिया।

उधर राजा मरुत्वान् नगर के बाहर यज्ञशाला में बैठा हुआ था। हिंसा धर्म में प्रवीण संवर्त नाम का एक प्रसिद्ध याजक राजा के लिए हिंसा यज्ञ का उपदेश दे रहा था। उस समय हिंसा यज्ञ के प्रेमी बहुत से ब्राह्मण उस यज्ञ-विधि में निमन्त्रित किये गये थे जो कि लोभ के वशीभूत हो अपने स्त्री-पुत्रों सहित वहाँ आ चुके थे। बहुत से पंडित वेदों की ऋचाओं का मंगल पाठ कर रहे थे। सैकड़ों हीन-दीन पशु भी वहाँ लाकर बाँधे गये थे। भय से उन पशुओं के पेट दुःख की सांसें भर रहे थे।

उस समय अपनी इच्छा से आकाश में भ्रमण करते हुए नारद ने वहाँ पर बहुत बड़ी भीड़ देखी। उसे देख आश्चर्यचकित हो सोचने लगे–"यह उत्तम नगर कौन है? ये सेना किसकी है? यह प्रजासमूह भी यहाँ क्यों ठहरा हुआ है?"

ऐसा विचार करता हुआ नारद कौतुहलवश नीचे उतरकर यज्ञशाला के समीप पहुँचा। वहाँ पर बँधे हुए पशुओं को देखकर दया से युक्त होकर राजा मरुत्वान् के निकट पहुँच गया और कहने लगा–"हे राजन्! तुमने यह क्या

प्रारम्भ कर रखा है? यह प्राणियों की हिंसा नरक का द्वार है।"

तब राजा ने कहा–"हे ऋषे! इस यज्ञ से मुझे जो फल प्राप्त होने वाला है वह समस्त शास्त्रों का ज्ञाता यह याजक पुरोहित ही तुम्हें बतायेगा।"

तब नारद पुरोहित से कहने लगा–"अरे मूढ़! तूने यह हिंसा यज्ञ का आडम्बर क्यों फैलाया है? सर्वज्ञ भगवान के वचनानुसार तेरा यह कार्य धर्म नहीं है, प्रत्युत महानिंद्य है और नरक-निगोदों का कारण है।"

यह सुनकर वह संवर्त पुरोहित क्रोध के आवेश में आकर बकने लगा–"अहो! तू बड़ा ढीठ मालूम पड़ रहा है, जो बिना बुलाये ही यहाँ आ पहुँचा है और बिना कुछ पूछे ही शिक्षा दे रहा है। अतीन्द्रिय पदार्थों के देखने वाले सर्वज्ञ कोई हो सकते हैं क्या? जिन्होंने धर्म को बतलाया हो। अरे! वेदी के मध्य जो पशु होमे जाते हैं, वे सब स्वर्ग चले जाते हैं और होम को करने-कराने वाले भी स्वर्ग को प्राप्त कर लेते हैं। ब्रह्मा ने यज्ञों के लिये ही पशुओं का निर्माण किया है। यह वेद का सूत्र है–'यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः' हमारे यहाँ जो अपौरुषेय वेद माने गये हैं, वे ही प्रमाण हैं, न कि तेरे यहाँ सर्वज्ञ के द्वारा कथित आगम।"

इतना सुनते ही नारद वाद-विवाद के लिये तैयार हो गये और कहने लगे–"अरे पुरोहित! तू कह रहा है कि सर्वज्ञ कोई नहीं है किन्तु ऐसा तूने कैसे निर्णय किया?" देख! यदि तू तीनों लोकों में देखकर आया है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है तभी तो तू कह सकता है अन्यथा कैसे कह सकता है और यदि तूने सारे विश्व को देख लिया है तब तो तू स्वयं ही सर्वज्ञ बन गया है। क्योंकि "सर्वं जानातीति सर्वज्ञः" जो सभी को जानता है वही सर्वज्ञ है। और यदि तूने तीनों लोकों को नहीं देखा है तो तू कैसे कह रहा है कि कोई सर्वज्ञ नहीं है? जब तू स्वयं अल्पज्ञ है तब तुझे ऐसा कहने का भी कुछ अधिकार नहीं है। इसलिये कर्ममल कलंक को नष्ट करने वाले सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान हैं और वे अतीन्द्रिय पदार्थों के ज्ञाता-द्रष्टा हैं, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये।

जो तू कह रहा है कि वेदी के मध्य पशुओं का होम करने से पाप नहीं होता है, प्रत्युत् वे पशु स्वर्ग चले जाते हैं, तो मूढ़! तू अपने ही परिवार को पहले स्वर्ग क्यों नहीं भेज देता है? देख, बेचारे ये पशु कैसे बिलबिला रहे हैं? कैसे तड़प रहे हैं? और कैसे दीन कातर हो रहे हैं?

यदि होम में हिंसा करने वाले याजक और यजमान स्वर्ग को प्राप्त कर

लेते हैं, तो पुनः धीवर, खटीक और बधिक हत्यारों को भी स्वर्ग मिलना चाहिये और फिर भला नरक में कौन जाएँगे? हाँ, यदि होम में मारे गये प्राणी हँसते हुये सुखी दिखने लगें तब तो फिर भी उनकी सुगति होगी, ऐसा कोई मान ले किन्तु देख! यह होम में डाले जा रहे पशु कैसी चीत्कार कर रहे हैं। इनका रोना, चिल्लाना तू कैसे देख रहा है? अरे निर्दयी! तू कितना निष्ठुर और क्रूरकर्मा है!

जो तू कह रहा है 'ब्रह्मा ने पशुओं की सृष्टि होम के लिये ही की है' सो वह सर्वथा असंगत ही है। पहली बात तो जब ब्रह्मा परमपिता परमेश्वर है, कृतकृत्य है तो वह सृष्टि रचने के प्रपंच में क्यों पड़ता है? और यदि सृष्टि का निर्माण भी मान लो तो यदि वह करुणासागर है, तो ऐसे पापी, दुर्व्यसनी, पारथी, हिंसक, चोर, डाकुओं को क्यों बनाता है? यदि कहो कि इन पापकर्मा को नरक में दुःख मिलेगा तो उसने नरक की व्यवस्था भी क्यों बनाई? परमकारुणिक परमपिता को तो अच्छे-अच्छे मनुष्यों का और स्वर्गादि शुभ स्थानों का ही निर्माण करना चाहिये तथा ऐसे पशुओं का निर्माण ही क्यों करता है कि जिससे उन्हें अग्नि के कुण्ड में झोंका जाये? अरे भले मानुष! सच तो यह है कि धूप, कर्पूर, कचरी आदि सुगन्धित पदार्थों और पुराने धानों से ही होम किया जाना शास्त्र में लिखा है।

जो तू वेद को अपौरुषेय कह रहा है, वह भी गलत है। वेद तो ऋषियों द्वारा रचे गये हैं। हाँ, जो माँसाहार के समर्थक थे, उन्होंने ही उन वेदों में हिंसा का विधान कर दिया है और उस हिंसा को भी धर्म कह दिया है। सच्चे वेद तो जिनेन्द्रदेव के द्वारा कहे हुये चार अनुयोग ही हैं जिनमें सर्वत्र अहिंसा धर्म का ही कथन है।''

इस प्रकार समझाते हुए नारद को उन क्रूरकर्मा याजकों की आज्ञा से कर्मचारियों ने घेर लिया और हाथों से मुक्कों से मारने लगे। इसी बीच रावण का दूत उधर आ पहुँचा और उसने नारद की यह दुर्दशा देखी और जल्दी से जाकर रावण को सूचना दे दी।

रावण उसी समय वेगशाली वाहन पर सवार होकर उस यज्ञभूमि में आ पहुँचा। रावण के सिपाही भी नंगी तलवारें, भाले, शस्त्र आदि हाथ में लिये हुए रावण के साथ ही वहाँ आ गये। उन लोगों ने पल भर में नारद को उन दुष्टों

के घेरे से मुक्त कर दिया। यज्ञ के खम्भे तोड़ डाले, क्रूरकर्मा ब्राह्मणों को पीटना शुरू कर दिया और पशुओं को बन्धन से मुक्त कर दिया। बेचारे दीन-हीन पशु अपने प्राणों को पाकर जंगल में भाग गये। रावण के कर्मचारियों ने उन निर्दयी यज्ञ करने वालों को इतना पीटा कि वे सब 'त्राहि-त्राहि' करने लग गये। तब दयालु रावण ने उनसे कहा कि–''अरे धूर्तों! जैसे तुम्हें दुःख अप्रिय है वैसे ही इन बेचारे पशुओं को भी दुःख अप्रिय है। तीनों लोकों में जितने भी प्राणी हैं सभी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। सभी को अपना जीवन प्रिय है।''

इतना सुनते ही वे ब्राह्मण कहने लगे–''अब हमें छोड़ दो, मत मारो। अब हम लोग ऐसा हिंसा यज्ञ कभी भी नहीं करेंगे। हे राजन्! आप हमारी रक्षा करो। हे नारद ऋषे! तुम तो बड़े दयालु हो, अब मुझे जीवन दान दिलाओ। हाय! हाय! घोर अनर्थ हो गया। अब हम लोग सदा ही अहिंसा धर्म की शरण में रहेंगे। हमारी रक्षा करो, रक्षा करो।''

इस प्रकार से उन सबका रोना-चिल्लाना सुनकर नारद का हृदय करुणा से आर्द्र हो गया। उसने रावण से कहा–''हे राजन्! अब इन बेचारों को छोड़ दो, अब इनकी बुद्धि ठिकाने आ गई है।''

रावण का संकेत पाते ही कर्मचारियों ने उन सबको छोड़ दिया। राजा मरुत्वान् भी दुष्ट अभिप्राय छोड़कर नारद के समीप आया और उन्हें साष्टांग प्रणाम कर रावण के निकट पहुँचकर उन्हें प्रणाम किया। इसी बीच रावण ने कहा–''हे ऋषे! आप आज्ञा दें तो मैं इन दुष्ट प्रकृतियों के पुरोहितों को निर्मूल समाप्त कर दूँ जिससे फिर कभी हिंसायज्ञ की परम्परा न चल सके।''[1]

तब नारद कहते हैं–''हे राजन्! एक बार जो कुत्सित परम्परा चल जाती है उसका निर्मूल विनाश असम्भव है। इस पृथ्वी पर चक्रवर्ती सुभौम ने इक्कीस बार इन ब्राह्मणों का सर्वनाश किया था फिर भी ये अत्यंताभाव को प्राप्त नहीं हो सके अर्थात् इनका सर्वथा अभाव नहीं हो सका।

हे दशानन! जब सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव भी इस संसार को कुमार्ग से रहित नहीं कर सके तब फिर हमारे जैसे लोग कैसे कर सकते हैं?

---

1. जिनैरपि कृतं नैतत्सर्वज्ञैर्निःकुमार्गकम्।
जगत् किमुत शक्येत कर्तुमस्मद्विधैर्जनैः।।301।।
(पद्म पुराण, पर्व 11)

अतः हे सत्पुरुष! अब तुम इन मूढ़ों की हिंसा से विरत हो जाओ।"

इतना सब सुनकर मरुत्वान् ने अर्धचक्री रावण को बार-बार प्रणाम कर क्षमायाचना करते हुए प्रसन्न किया और अपनी कनकप्रभा पुत्री का पाणिग्रहण रावण के साथ कर दिया। रावण ने भी हिंसायज्ञ का विध्वंस करके पुरोहितों को अहिंसा धर्म का उपदेश दिया, नारद की भक्ति की। मरुत्वान् राजा को अपने अनुकूल करके उसकी पुत्री के साथ मनचाहे भोगों का अनुभव करता हुआ आगे के देशों पर विजय प्राप्त करने की आशा से वहाँ से प्रस्थान कर गया।

शुभचंद्र—गुरूजी! इस कथानक से स्पष्ट है कि रावण राक्षसी प्रवृत्ति का नहीं था प्रत्युत् बड़ा दयालु था।

गुरूजी—हाँ, शुभचंद्र! इसने अपने जीवन में एक सीता अपहरण के कलंक से अपना अपयश चिरस्थायी कर लिया है अन्यथा इसने अपने जीवन में कई एक बहुत अच्छे-अच्छे कार्य किये हैं।

शुभचंद्र—इससे यह भी शिक्षा मिलती है कि परस्त्री सेवन से बढ़कर संसार में कोई दूसरा पाप नहीं है। अहो! मात्र परस्त्री सेवन की अभिलाषा से ही बेचारा रावण आज आबाल-गोपाल में निंद्य गिना जाता है और अभी तक भी नरक में दुःख भोग रहा है।

गुरूजी—इसीलिए तो पुराण चरित्रों को पढ़ने का उपदेश साधु लोग देते रहते हैं। उनका आदर्श जीवन अपने को वैसा बनने की प्रेरणा देता है और अपने को पापों से बचाता रहता है।

शुभचंद्र—सच है गुरूजी! अब मैं पद्मपुराण का स्वाध्याय जरूर करूँगा।

जिनके उर में कल-कल बहती, गंगा की निर्मलधारा।
त्याग और शुभ ज्ञान मणि से, जिनने निज को शृंगारा।।
वचनों के मोती बिखरातीं, युग की पहली बालसती।
मेरा शत वन्दन स्वीकारो, गणिनी माता ज्ञानमती।।

—आर्यिका चंदनामती

समवसरण का विवेचन

कमल—गुरूजी! भगवान महावीर को केवलज्ञान कब और कहाँ उत्पन्न हुआ था?

गुरूजी—भगवान महावीर दीक्षा के अनन्तर मौनपूर्वक छद्मस्थ अवस्था के बारह वर्ष बिताकर जृंभिका ग्राम के बाहर मनोहर वन के मध्य में ऋजुकूला नदी के किनारे महारत्न शिला पर शालवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यान में लीन हो गये। उस समय अपनी शुद्ध आत्मा के अनुभव से उत्पन्न हुए परमानन्द से भगवान ने शुक्लध्यान से मोहनीय का नाश करके ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का भी नाश कर दिया। बस, वे वीर प्रभु केवलज्ञानी हो गये, वह दिन वैशाख सुदी दशमी का था।

कमल—गुरूजी! भगवान ने छद्मस्थ अवस्था में कहाँ-कहाँ चातुर्मास किये थे?

गुरूजी—बेटा कमल! दिगम्बर जैन आम्नाय में किन्हीं भी ग्रन्थों में किन्हीं भी तीर्थंकरों के चातुर्मास का वर्णन नहीं आता है अतः भगवान महावीर के चातुर्मास करने की कल्पना भी गलत है।

कमल—महावीर भगवान के तीर्थंकर प्रकृति का उदय कब आया था?

गुरूजी—जब घातिया कर्मों का नाश कर केवली बनते हैं उसी समय ही तीर्थंकर प्रकृति का उदय होता है। इसके पहले तीर्थंकर प्रकृति केवल सत्ता में रहती है और उसी के प्रभाव से गर्भ में आने के छह महीने पहले से ही रत्नों की वर्षा आदि अनेकों उत्सव शुरू हो जाते हैं। यहाँ तक कि गर्भ, जन्म और तप कल्याणक के इतने महान् उत्सव भी जो इन्द्रगण करते हैं उस समय भी तीर्थंकर प्रकृति का उदय नहीं रहता है।

कमल—गुरूजी! क्या सत्ता में स्थित कर्म भी जीव का भला-बुरा कर सकते हैं।

गुरूजी—अवश्य! देखो, यदि नरक आयु, मनुष्य आयु या तिर्यंच आयु में से किसी आयु का बंध हो जावे तो यह मनुष्य अणुव्रत तथा महाव्रत को ग्रहण नहीं कर सकता है। सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की मोहनीय कर्म की स्थिति यदि सत्ता में है या अन्य कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति सत्ता में है तो इस जीव के

सम्यक्त्व ग्रहण करने की योग्यता भी नहीं आती है। जब ये सत्ता के कर्म अन्तः कोड़ा-कोड़ी सागर की स्थिति में हो जाते हैं तभी सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता आती है। बेटा कमल! तुम्हें गोम्मटसार कर्मकाण्ड और लब्धिसार ग्रन्थों का भी स्वाध्याय करना चाहिये, तभी इन सब कर्मों के उदय, सत्व, बंध आदि का ज्ञान हो सकेगा।

कमल—गुरूजी! समवसरण का कुछ थोड़ा सा वर्णन कीजिये।

गुरूजी—समवसरण की 'दिव्य भूमि' स्वाभाविक भूमि से एक हाथ ऊँची रहती है और उससे एक हाथ ऊपर 'कल्प भूमि' होती है। भगवान महावीर की समवसरण भूमि का विस्तार एक योजन—चार कोश प्रमाण है। यह भूमि कमल के आकार की होती है। इसमें गंधकुटी तो कर्णिका के समान ऊपर ऊँची उठी होती है और बाह्य भाग कमल दल के समान विस्तृत होता है यह इन्द्र नीलमणि से निर्मित रहती है। इसमें चारों दिशाओं में मानस्तम्भ होते हैं जो कि दो-दो हजार पहलू के होते हैं। ये बारह योजन की दूरी से दिखाई देते हैं। जिनका मन अहंकार से सहित है ऐसे देवों और मनुष्यों को ये वहीं रोक देने वाले हैं।

चार कोट, पाँच वेदियाँ, इनके बीच में भूमियाँ और सर्वत्र प्रत्येक अन्तर भाग में तीन पीठ होते हैं।

मानस्तम्भ की चारों दिशाओं में चार सरोवर हैं। इसके आगे एक वज्रमयकोट है। इस कोट को चारों ओर से घेरकर एक परिखा है। उसमें घुटनों तक जल भरा हुआ है। उसके चारों ओर लताओं का उपवन है। उसको घेर कर सुवर्ण का परकोटा है, उसमें चार गोपुर द्वार हैं, उन द्वारों पर व्यन्तर जाति के देव द्वारपाल हैं, जो अपने प्रभाव से हाथ में मुद्गर लिए हुए अयोग्य व्यक्तियों को दूर हटाते हैं। इन गोपुरों के मणिमय तोरणों के दोनों ओर छत्र, चमर आदि मंगल द्रव्य एक सौ आठ-एक सौ आठ संख्या में सुशोभित हैं। उन गोपुर के आगे बीथियों के दोनों ओर तीन-तीन खण्ड की दो-दो नाट्यशालायें हैं। जिनमें बत्तीस-बत्तीस देव कन्यायें नृत्य करती हैं। अनन्तर पूर्व दिशा में अशोकवन, दक्षिण में सप्तपर्ण, पश्चिम में चंपक और उत्तर में आम्र वन हैं। इन वनों में एक-एक मुख्य वृक्ष सिद्ध प्रतिमाओं से सहित हैं। इन वनों में क्रम से छह-छह वापिकायें हैं ये क्रम से उदय, विजय, प्रीति और ख्याति नामक फलों को देती

हैं। आगे पुनः बत्तीस नाट्यशालायें हैं। उन पर ज्योतिषी देवांगनायें नृत्य करती हैं। आगे चारों ओर से घेरे हुए वज्रमय वेदिका है। चारों गोपुरों के आगे चार बीथियाँ हैं। उनके दोनों पसवाड़े में ध्वजायें फहराती हैं। इन ध्वजाओं में मयूर, हंस, माला आदि दस प्रकार के चिह्न क्रमशः होते हैं। इनमें छोटी-छोटी घण्टिकायें लगी हुई हैं। विशेष रीति से एक दिशा में एक करोड़, सोलह लाख, चौंसठ हजार हैं और चारों दिशा सम्बन्धी ध्वजायें चार करोड़ अड़सठ लाख छत्तीस हजार से अधिक हैं। आगे की नृत्यशालाओं में व्यन्तर देवियाँ नृत्य करती हैं। उसके आगे स्वर्ण निर्मित दूसरा परकोटा है। इस कोट के द्वारों पर भवनवासी इन्द्र द्वारपाल हैं। ये बेंत की छड़ी धारण किये हुए पहरा देते हैं।

उसके आगे नाट्यशालायें, धूपघट और कल्पवृक्ष वन हैं। आगे नौ-नौ स्तूप हैं। ये स्तूप पद्मराग मणियों से निर्मित हैं। उनके समीप स्वर्ण रत्नों से निर्मित मुनियों के और देवों के योग्य सभागृह हैं। सभागृहों के आगे स्फटिक मणि से निर्मित तीसरा परकोटा है। इस परकोटे के चारों गोपुरों के दोनों बाजू में उत्तम रत्नमय आसनों के मध्य मंगलरूप दर्पण हैं जो देखने वालों के पूर्व भव दिखलाते हैं। इन गोपुर द्वारों पर कल्पवासी देव द्वारपाल हैं। आगे अन्तर्वन, नाट्यशालायें, सिद्धार्थ वृक्ष आदि हैं।

आगे एक मन्दिर है जिसमें बारह स्तूप हैं। इनके आगे नन्दा, भद्रा, जया और पूर्णा बावड़ियाँ हैं जिनमें स्नान करके जीव अपना पूर्व भव जान लेते हैं। इनमें देखने वाले जीवों को अपने आगे-पीछे के सात भव दिखने लगते हैं। वापियों के आगे एक जयांगण है जो तीन लोक की विजय का आधार है। उसके मध्य में एक इन्द्रध्वज सुशोभित होता है। उसके आगे एक हजार खम्भों पर खड़ा हुआ एक महोदय मण्डप है जिसमें मूर्तिमयी श्रुतदेवता विराजमान रहती हैं। उस श्रुतदेवता को दाहिने भाग में स्थापित करके अनेक मुनियों से युत श्रुतकेवली श्रुत का व्याख्यान करते हैं। इन मण्डपों के समीप में नाना प्रकार के फुटकर स्थान भी बने हैं जिनमें बैठकर केवलज्ञान आदि महा ऋद्धियों के धारक मुनि इच्छुक जनों की इष्ट वस्तु का निरूपण करते हैं।

आगे विजयांगण के कोनों में चार लोक स्तूप हैं जिन पर ध्वजाएँ फहराती हैं। ये लोक स्तूप तीन लोक के आकार वाले स्वच्छ स्फटिक से निर्मित हैं। इनमें लोक की रचना स्पष्ट दिखाई देती है। इन स्तूपों के आगे मध्यलोक स्तूप

हैं जिनके भीतर मध्यलोक की रचना स्पष्ट है। आगे मन्दिर स्तूप है जो कि सुमेरू पर्वत की रचना स्पष्ट करते हैं। उनके आगे क्रम से कल्पवासस्तूप, ग्रैवेयक स्तूप, अनुदिश नाम के नौ स्तूप और सर्वार्थ सिद्धि नामक स्तूप हैं। ये सब अपने नाम के अनुरूप ही रचनाओं को दिखा रहे हैं। इनके आगे सिद्ध स्तूप है जिनमें सिद्धों के स्वरूप को प्रगट करने वाली दर्पणों की छाया दिखाई देती है। उनके आगे भव्यकूट नाम के स्तूप हैं जिन्हें अभव्य जीव नहीं देख पाते हैं। उनके नेत्र अन्धे हो जाते हैं। आगे प्रमोहस्तूप है। पुनः प्रबोध नाम का स्तूप है। आगे अत्यन्त ऊँचे दस स्तूप हैं। इनके आगे पुनः एक कोट है जिसके मण्डल की भूमि को बचाकर देव तथा मनुष्य प्रदक्षिणा देते रहते हैं। आगे परिधि है वहाँ गणधर देव की इच्छा करते ही एक पुर बन जाता है, उसके त्रिलोकसार, श्रीकान्त आदि अनेकों नाम हैं। भगवान के प्रभाव से वह नगर तीनों लोकों के श्रेष्ठ पदार्थों से युक्त आश्चर्य उत्पन्न करने वाला होता है।

उसके बनाने वाला कुबेर भी यदि एकाग्रचित्त हो उसके बनाने का पुनः विचार करे तो वह भी नियम से भूल कर जायेगा, फिर अन्य मनुष्य की तो बात ही क्या है? उस नगर का निर्माण यथास्थान छब्बीस प्रकार के सुवर्ण और मणियों से चित्र-विचित्र है। उसके तल भाग में तीन जगती हैं। उनमें द्वारपालों के द्वार पर कुबेर की धनराशि का ढेर है। इस जगती में हजारों कूट और ध्वजायें हैं।

वहाँ चारों ओर देदीप्यमान पीठ होते हैं। उनमें पहली पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित हैं। दूसरी पीठ पर चार ध्वजायें हैं। तीसरी पीठ पर गन्धकुटी नाम का प्रासाद है। उस पर भगवान का सिंहासन है। उस पर कमलासन पर चार अंगुल अधर जिनेन्द्रदेव विराजमान रहते हैं।

पहली पीठ–कटनी के चारों तरफ आकाश स्फटिक की दीवालों वाले बारह विभाग सुशोभित हैं। इन बारह कोठों में क्रम से प्रथम कोठे में गणधर देव और अपने-अपने दीक्षा गुरुओं से अधिष्ठित मुनिगण सुशोभित हो रहे थे। द्वितीय कोठे में कल्पवासी देवियाँ, तृतीय में आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ, चतुर्थ में ज्योतिषी देवियाँ, पाँचवें में व्यन्तर देवियाँ, छठे में भवनवासिनी देवियाँ, सातवें में भवनवासी देव, आठवें में व्यन्तर देव, नवमें में ज्योतिषी देव, दसवें में कल्पवासी देव, ग्यारहवें में मनुष्य, चक्रवर्ती आदि श्रावकगण और बारहवें

कोठे में सिंह, हरिण आदि पशुगण बैठे रहते हैं।

इन बारह सभाओं में संख्यातों मनुष्यों, तिर्यंचों से तथा असंख्यातों देव-देवियों से वेष्टित भगवान चौंतीस अतिशय और आठ प्रतिहार्य से विभूषित अनन्त चतुष्टय आदि अनन्त गुणों के स्वामी देवाधिदेव विराजमान रहते हैं।

कमल–जितना वर्णन आपने समवसरण के अन्दर की चीजों का किया है। मेरी समझ में नहीं आया है कि इतना वैभव चार कोश के समवसरण में आवे!

गुरूजी–बेटा! इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। एक सामान्य अणिमा ऋद्धिधारक देव भी कमल की नाल के तन्तु जैसे बारीक छिद्र में चक्रवर्ती के कटक को स्थापित कर सकता है अथवा अक्षीणमहालय ऋद्धिधारक मुनि जहाँ बैठते हैं, उस चार हाथ प्रमाण कमरे में भी असंख्यात देवगण, विद्याधर, मनुष्य, पशु आदि बैठकर उपदेश सुन सकते हैं पुनः तीन लोक के नाथ तीर्थंकर भगवान के सानिध्य में इतना चमत्कार हो जावे तो कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है।

कमल–गुरूजी! समवसरण में कितनी सीढ़ियाँ होती हैं?

गुरूजी–कमल! इस समवसरण में गन्धकुटी पर विराजमान भगवान इस पृथ्वी तल से 5000 धनुष = 20000 हाथ ऊँचे जाकर विराजमान हैं अतः इसमें 1-1 हाथ की 20000 (बीस हजार) सीढ़ियाँ हैं। इस पर अन्धे, लंगड़े, लूले, बाल, वृद्ध और रोगी आदि सभी अड़तालीस मिनट के भीतर-ही-भीतर चढ़ जाते हैं। यह भगवान का ही माहात्म्य है। समवसरण में मिथ्यादृष्टि, पाखंडी, शूद्र, क्रूर प्राणी और अभव्यजीव नहीं जा सकते हैं।

ऐसे समवसरण में स्थित भगवान को नमस्कार करने से, समवसरण का ध्यान करने से आज भी महान पुण्य का बन्ध हो जाता है। ऐसा समवसरण आज विदेहों में सीमंधर आदि तीर्थंकरों का विद्यमान है।

इस समवसरण का और विस्तृत वर्णन हरिवंशपुराण, महापुराण, तिलोयपण्णत्ति आदि ग्रन्थों में है।

कमल–अच्छा गुरूजी! अब मैं इन ग्रन्थों का स्वाध्याय खुद करूँगा।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य क्या है?

सन्तोष कुमार–गुरूजी! उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य क्या चीज है?

गुरूजी–द्रव्य का लक्षण है 'सत्' अर्थात् विद्यमान रहना। सत् का लक्षण है ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'' अर्थात् जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होता है वह ''सत्'' है। अब तीनों का लक्षण सुनो–

किसी वस्तु में नवीन पर्याय की उत्पत्ति होना उत्पाद है, उसी द्रव्य की पूर्व पर्याय का विनाश होना व्यय है और दोनों अवस्थाओं में द्रव्य का बने रहना ध्रौव्य है। जैसे-तुमने अंगूठी बनवाई है तो उसमें अंगूठी के पूर्व सुवर्ण की डली पर्याय का नाश हुआ, अंगूठी पर्याय का उत्पाद हुआ और दोनों अवस्थाओं में सुवर्णपना द्रव्य मौजूद है, यह ध्रौव्य है। ऐसे ही मनुष्य पर्याय का विनाश हुआ, उसी क्षण में देवायु-देवगति आदि के उदय होने से देवपर्याय का उत्पाद हुआ और दोनों अवस्थाओं में जीवत्व मौजूद है, वह ध्रौव्य हुआ।

संतोष कुमार–इसमें तो बहुत समय लगता है। मेरी माताजी कहती थीं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनों एक ही समय में होते हैं।

गुरूजी–बात ठीक है। इन तीनों में समय भेद नहीं है। देखो, तुमने एक घड़े में डंडा मारा, घड़ा फूट गया। उसमें घट पर्याय का विनाश, कपाल–टुकड़े पर्याय का उत्पाद और मिट्टी द्रव्य दोनों अवस्थाओं में मौजूद है। ये तीनों अवस्थायें एक समय में ही हुई हैं।

संतोष कुमार–ये उत्पादादि किन-किन वस्तुओं में होते हैं?

गुरूजी–सभी चेतन-अचेतन वस्तुओं में प्रतिक्षण होते रहते हैं। जो प्रतिक्षण होते हैं वे हमें दिखाई नहीं देते हैं किन्तु जो व्यंजन पर्याय में होते हैं वे हम लोगों को स्पष्ट होते हैं जिनका कि हमने ऊपर उदाहरण दिया है।

सन्तोष कुमार–तो क्या मेरी इस पुस्तक में प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता रहता है?

गुरूजी–हाँ, अवश्य है। यदि नहीं मानोगे तो यह पुस्तक कभी पुरानी नहीं होनी चाहिये। और दूसरा उदाहरण देखो–जब तुम्हारी माँ ने चावल में पानी डालकर बर्तन में भरकर चूल्हे पर चढ़ा दिया, समझो वह 10 मिनट में भात बन गया है। एक मिनट के बाद यदि तुमने उस बर्तन को खोल कर देखा

तो वह ज्यों-का-त्यों है, यहाँ तक कि 3 मिनट में भी कुछ फर्क नहीं दिखता है, तो तुमने क्या समझा? क्या एकदम भात बन गया?

सन्तोष कुमार–और तो कैसे बना?

गुरूजी–प्रति मिनट वह कुछ-न-कुछ अंश में पका। यहाँ तक कि प्रति समय कुछ-न-कुछ अंश में पका है। इसलिये पक्व पर्याय का उत्पाद, अपक्व पर्याय का व्यय और दोनों अवस्थाओं में चावल द्रव्य वर्तमान है। इसी का नाम प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। और देखो, तुम्हारे छोटे भाई की कल वर्षगाँठ थी। वह एक वर्ष का हो गया। बताओ गत वर्ष से इस वर्ष में वह कुछ बड़ा हुआ या नहीं?

सन्तोष कुमार–अवश्य हुआ है।

गुरूजी–वह एक-एक महीने में बढ़ता गया है। ऐसी ही बात नहीं है, बल्कि एक-एक समय में बढ़ता गया है। उसमें नवीन-नवीन पर्याय का उत्पाद, पूर्व-पूर्व पर्याय का व्यय और जीवत्व अवस्था का दोनों अवस्थाओं में बने रहना, यही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। भले ही यह अपने को दृष्टिगोचर न हो फिर भी अनुमान और आगम से इसका ज्ञान होता है।

सन्तोष कुमार–एक बार आपने कहा था कि बौद्ध लोग नाश को अहेतुक मानते हैं सो क्या है?

गुरूजी–हाँ सुनो, उनकी बड़ी विचित्र मान्यता है। वे कहते हैं कि घट को तुमने मुद्गर से फोड़ दिया, तो मुद्गर के निमित्त से कपाल का उत्पाद हुआ है, न कि घट का नाश। घट का नाश तो स्वयं हो गया है अर्थात् वे लोग नाश को अहेतुक कहते हैं और निमित्त कारण को नये कार्य में हेतु मानते हैं।

सन्तोष कुमार–इस पर जैनाचार्य क्या कहते हैं?

गुरूजी–जैनाचार्यों का कहना है कि एक मुद्गर के कारण से घट का नाश और कपालों का उत्पाद हुआ है। नाश और उत्पाद में एक ही हेतु है। मुद्गर से घट फूटने में नाश अहेतुक नहीं है।

सन्तोष कुमार–ऐसा ही तो अनुभव आ रहा है।

गुरूजी–बस, अनुभव को न मानना और यद्वा-तद्वा कल्पना करते रहना, इसी का नाम मिथ्यात्व है, इसको छोड़ देना चाहिये।

आजकल के मुनि आहार के पात्र हैं या नहीं

विजय–गुरूजी! आज हमारी माँ मुनियों को आहार देने के लिये शुद्ध भोजन बनाना चाहती थीं परन्तु पिताजी ने यह कहकर मना कर दिया कि वर्तमन में सभी दिगम्बर मुनि द्रव्यलिंगी हैं। इनको आहार देने से पाप लगेगा अतः इनका पड़गाहन नहीं करना। इस घटना से मेरी माँ भी रोई और मुझे भी बड़ा दुःख हुआ। आप बताइये कि आजकल के मुनियों को आहार देना चाहिये या नहीं?

गुरूजी–विजय! अवश्य देना चाहिये। मेरे ख्याल से तो चतुर्थकाल की अपेक्षा भी आज के मुनियों को दान देने से पुण्य अधिक है किन्तु आज जो मुनियों को देखकर ग्लानि करते हैं उनके विषय में महामुनियों ने पहले से ही भविष्यवाणी कर रखी है। सुनो–

किसी समय दशरथ के चतुर्थ पुत्र शत्रुघ्न महाराज अपनी माता के साथ-साथ मथुरा नगरी के उद्यान में स्थित सप्त ऋषियों के दर्शनार्थ आये। उस समय वर्षायोग समाप्त हो चुका था। कार्तिक शुक्ला सप्तमी का दिन था। हर्ष से भरे शत्रुघ्न ने मुनियों को नमस्कार कर उनसे अपने यहाँ पारणा करने की प्रार्थना की। तब उन मुनियों में जो प्रमुख मुनि थे, बोले–"हे नरश्रेष्ठ! दिगम्बर मुनि इस तरह प्रार्थना करने पर आहार स्वीकार नहीं करते हैं। वे मन-वचन-काय से न स्वयं भोजन बनाते हैं, न बनवाते हैं और न अनुमोदना ही करते हैं। इस प्रकार मन, वचन, काय से कृत-कारित-अनुमोदना को गुणित करने पर 3 × 3 = 9 भेद होते हैं। नवकोटि से रहित प्रासुक आहार पड़गाहन विधि से श्रावक द्वारा नवधाभक्ति पूर्वक जो दिया जाता है साधु उसे ही ग्रहण करते हैं।"

पुनः शत्रुघ्न ने कहा–"हे महामुनि श्रेष्ठ! आप प्रार्थना करने वालों पर अत्यधिक स्नेह रखते हैं अतः हमारे ऊपर भी प्रसन्न होकर कुछ दिन इस नगरी में और ठहरिये। नाथ! आपके प्रसाद से ही यहाँ का घोर महामारी, उपद्रव समाप्त होकर सुभिक्ष हुआ है।" शत्रुघ्न को नतमस्तक देखकर वे मुनिराज उपदेश देते हुए उनके सामने यथायोग्य काल के प्रभाव का निरूपण करने लगे। उन्होंने कहा–"हे राजन्! जब अनुक्रम से तीर्थंकरों का काल व्यतीत हो जायेगा, तब यहाँ धर्म-कर्म से रहित अत्यन्त भयंकर समय होगा अर्थात्

पंचमकाल प्रवेश करेगा। दुष्ट, पाखंडी लोगों के द्वारा यह परम उन्नत जैन शासन उस तरह तिरोहित हो जायेगा कि जिस तरह धूलि के छोटे-छोटे कणों से सूर्य का बिम्ब तिरोहित हो जाता है। उस समय ग्राम श्मशान के समान, नगर यमलोक के समान और देश क्लेश से युक्त निन्दित तथा दुष्ट चेष्टाओं के करने वाले होंगे। यह संसार चोरों के समान कुकर्म में निरत तथा क्रूर दुष्ट पाखंडी लोगों से निरन्तर व्याप्त होगा। लोग दुष्ट तथा निर्धन होंगे, साथ-ही-साथ, यहाँ हिंसा सम्बन्धी हजारों दुःख निरन्तर प्राप्त होते रहेंगे। पुत्र माता-पिता के प्रति और माता-पिता पुत्र के प्रति स्नेह रहित होंगे तथा कलिकालरूप पंचमकाल के प्रगट होने पर राजा लोग चोरों के समान धन के अपहरण करने वाले होंगे। कितने ही मनुष्य यद्यपि सुखी होंगे तथापि उनके मन में पाप होगा और वे दुर्गति को प्राप्त कराने में समर्थ कथाओं से परस्पर में एक-दूसरे को मोहित करते हुए क्रीड़ा करेंगे।

हे शत्रुघ्न! कषाय की बहुलता सहित निकृष्ट समय के आने पर देवों के आगमन आदि समस्त अतिशय नष्ट हो जायेंगे।[1] तीव्र मिथ्यात्व से युक्त मनुष्य,

---

1. जातरूपधरान् दृष्ट्वा साधून् व्रतगुणान्वितान्।
सञ्जुगुप्सां करिष्यंति महामोहान्विता जनाः।।62।।
अप्रशस्ते प्रशस्तत्वं मन्यमानाः कुचेतसः।
भयपक्षे पतिष्यंति पतंगा इव मानवाः।।63।।
प्रशान्त हृदयान् साधून्, निर्भर्त्स्य विहसोद्यताः।
मूढा मूढेषु दास्यन्ति केचिदन्नं प्रयत्नतः।।64।।
इत्थमेतं निराकृत्य प्राहूयान्यं समागतम्।
यतिनो 'मोहिनो' देयं दास्यंत्यहितभावनाः।।65।।
बीजं शिलातले न्यस्तं सिच्यमानं सदापि हि।
अनर्थकं यथा दानं तथाशीलेषु गेहिनाम्।।66।।
अवज्ञाय मुनीन् गेही गेहिने यः प्रयच्छति।
त्यक्त्वा स चंदनं मूढो गृण्हात्येव विभीतकम्।।67।।
इति ज्ञात्वा समायातं कालं दुःषमताधमम्।
विधत्स्वात्महितं किंचित् स्थिरकार्यं शुभोदयम्।।68।।
नामग्रहणकोऽस्माकं भिक्षावृत्तिमवाससाम्।
परिकल्प्य तत्सारं तव द्रविणसंपदः।।69।।

(पद्मपुराण पर्व 92)

व्रतों और गुणों से सहित दिगम्बर मुद्रा के धारक मुनियों को देखकर ग्लानि करेंगे। अप्रशस्त को प्रशस्त मानते हुए कितने ही दुर्हृदय लोग भय के पक्ष में उस तरह जा पड़ेंगे जिस तरह कि पतंगे अग्नि में जा पड़ते हैं। हंसी करने में उद्यत हुए कितने ही मूढ़ मनुष्य, शान्त चित्त वाले मुनियों को तिरष्कृत करेंगे और मूढ़ मनुष्यों को आहार देंगे। इस प्रकार अनिष्ट भावना को धारण करने वाले गृहस्थ उत्तम मुनि का तिरस्कार कर तथा मोही मुनि को बुलाकर उसके लिये योग्य आहार आदि देंगे।

यथा शिलातल पर रखा हुआ बीज यद्यपि सदा सींचा जाये तथापि निरर्थक होता है उसी प्रकार शील रहित मनुष्यों के लिए दिया हुआ गृहस्थों का दान भी निरर्थक होता है। जो गृहस्थजन मुनियों की अवज्ञा कर गृहस्थ को दान देते हैं वे मूर्ख चन्दन को छोड़कर बहेड़ा ग्रहण करते हैं। इस तरह दुःषमता के कारण अधम काल को आया हुआ जानकर तुम आत्मा के लिये हितकर ऐसा कुछ शुभ तथा स्थायी कार्य करो। तुम नामी पुरुष हो अतः निर्ग्रंथ मुनियों को आहार देने का निश्चय करो। यही भाव तुम्हारी धन सम्पदा का सार है।

हे राजन्! आगे आने वाले काल में थके हुए मुनियों के लिए भिक्षा देना अपने गृहदान के समान एक बड़ा भारी आश्रय होगा। इसलिये हे वत्स! तुम दान देकर इस समय गृहस्थ के शील और व्रतों का नियम धारण करके अपना जीवन सार्थक करो। मथुरा के समस्त जन समीचीन धर्म को धारण करने में तत्पर, दया और वात्सल्य भाव से सम्पन्न तथा जिनशासन की भावना से युक्त होवें।

घर-घर में जिन प्रतिमाएँ स्थापित की जावें, उनकी पूजाएँ हों, अभिषेक हों और विधिपूर्वक प्रजा का पालन किया जाये।[1] हे शत्रुघ्न! इस नगरी की चारों दिशाओं में सप्तर्षियों की प्रतिमाएँ स्थापित करो, उसी से सब प्रकार की शान्ति होगी। आज से लेकर जिस घर में जिनप्रतिमा नहीं होगी, उस घर को

1. सप्तर्षिप्रतिमा दिक्षु चतसृष्वपि यत्नतः।
नगर्यां कुरु शत्रुघ्न! तेन शान्तिर्भविष्यति।।74।।
अद्यप्रभृति यद्गेहे बिम्बं जैनं न विद्यते।
मारी भक्ष्यति यद्व्याघ्री यथानाथं कुरंगकं।।75।।
यस्यांगुष्ठप्रमाणापि जैनेन्द्री प्रतियातना।
गृहं तस्य न मारी स्यात्ताार्क्ष्य भीता यथोरगी।।76।।
(पद्मपुराण, पर्व 92)

'मारी' नाम की व्याधि उस तरह से खा जायेगी जिस तरह से व्याघ्री अनाथ मृग को खा जाती है। जिसके घर में अंगूठे प्रमाण भी जिनप्रतिमा होगी उसके घर में गरुड़ से डरी हुई सर्पिणी के समान मारी का प्रवेश नहीं होगा।

अनन्तर "जैसी आप आज्ञा करते हैं वैसा ही होगा" इस प्रकार हर्ष से युक्त शत्रुघ्न ने कहा और उसके बाद उत्तम अभिप्राय को धारण करने वाले वे सभी साधु आकाश में उड़कर चले गये। सातों महाऋषि निर्वाण क्षेत्रों की प्रदक्षिणा देकर शुभ गति को धारण करने वाले वे अयोध्या नगरी में सीता के घर उतरे। अतिशय हर्षयुक्त परमश्रद्धा से सीता ने उन्हें विधिवत् उत्तम आहार दिया। जानकी के द्वारा सर्वगुण सम्पन्न अन्न को अपने हस्ततल में ग्रहण कर तथा आशीर्वाद देकर वे मुनि चले गये।

तदनन्तर शत्रुघ्न ने नगर के भीतर और बाहर सर्वत्र उपमा रहित जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमाएँ विराजमान कराईं।

विजय—इस कथानक से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचमकाल में मुनिराज सच्चे भावलिंगी होंगे और उनका अविनय-अनादर करने वाले कर्मबन्ध ही करेंगे तथा एक बात और हमारी समझ में आ गई है कि गृह चैत्यालय भी बहुत ही महत्त्वशाली हैं जो इसका विरोध करते हैं, वे अकारण ही पाप बन्ध कर लेते हैं।

गुरूजी—यह बात सत्य है। आज भी दक्षिण प्रान्त में प्रायः घर-घर में जिन चैत्यालय विद्यमान हैं, उत्तर प्रान्त में भी जयपुर में सैकड़ों गृह चैत्यालय हैं। आरा नगरी में भी बहुत से गृह-चैत्यालय हैं। विजय! खास बात यही है कि शास्त्र स्वाध्याय अपूर्ण होने से ही लोग अनर्गल बातें बकते रहते हैं। यदि आपके पितजी आगम का स्वाध्याय ठीक से करें तो उन्हें पता चलेगा कि पंचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनियों का अस्तित्व रहेगा और जो ऐसा नहीं मानता है, वह अज्ञानी ही है। सोमदेव सूरि ने तो यहाँ तक भी कहा है कि–

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनां।
ते संतः सन्त्वसंतो वा गृही दानेन शुद्ध्यति।।

भोजन मात्र के देने में तपस्वियों की क्या परीक्षा करना, वे सज्जन हों या नहीं हों, किन्तु गृहस्थ तो दान से शुद्ध हो ही जाएगा।

चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों की नामावली

महानुभावों,

अपने नगर के जिनमंदिरों में चौबीस तीर्थंकरों की सोलह जन्मभूमियों के नाम निम्नानुसार लिखवाएं अथवा शिलापट्ट लगवाएं एवं इन तीर्थों की यात्रा करके पुण्यलाभ प्राप्त करें।

प्रेरणा-गणिनीप्रमुख आर्यिका श्री ज्ञानमती माताजी

तीर्थंकर जन्मभूमि	तीर्थंकरों के नाम
1. अयोध्या (फैजाबाद-उ.प्र.)	– श्री ऋषभदेव भगवान
	श्री अजितनाथ भगवान
	श्री अभिनंदननाथ भगवान
	श्री सुमतिनाथ भगवान
	श्री अनंतनाथ भगवान
2. श्रावस्ती (बहराइच-उ.प्र.)	– श्री संभवनाथ भगवान
3. कौशाम्बी (उ.प्र.)	– श्री पद्मप्रभु भगवान
4. वाराणसी (उ.प्र.)	– श्री सुपार्श्वनाथ भगवान
	श्री पार्श्वनाथ भगवान
5. चन्द्रपुरी (वाराणसी) उ.प्र.	– श्री चन्द्रप्रभु भगवान
6. काकन्दी (देवरिया नि.-गोरखपुर) उ.प्र.	– श्री पुष्पदंतनाथ भगवान
7. भद्रिकापुरी, इटखोरी (चतरा-झारखंड)	– श्री शीतलनाथ भगवान
8. सिंहपुरी (सारनाथ) उ.प्र.	– श्री श्रेयांसनाथ भगवान
9. चम्पापुरी (भागलपुर-बिहार)	– श्री वासुपूज्यनाथ भगवान
10. कम्पिलपुरी (फर्रूक्खाबाद-उ.प्र.)	– श्री विमलनाथ भगवान
11. रत्नपुरी (फैजाबाद-उ.प्र.)	– श्री धर्मनाथ भगवान
12. हस्तिनापुर (मेरठ-उ.प्र.)	– श्री शांतिनाथ भगवान
	श्री कुन्थुनाथ भगवान
	श्री अरनाथ भगवान

13. मिथिलापुरी	– श्री मल्लिनाथ भगवान
	श्री नमिनाथ भगवान
14. राजगृही (नालंदा-बिहार)	– श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान
15. शौरीपुर (बटेश्वर-उ.प्र.)	– श्री नेमिनाथ भगवान
16. कुण्डलपुर (नालंदा-बिहार)	– श्री महावीर भगवान

विशेष–ज्ञातव्य है कि पूज्य गणिनी श्री ज्ञानमती माताजी की प्रेरणा से स्थापित अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी द्वारा तीर्थंकर भगवन्तों की जन्मभूमियों के विकास का क्रम सफलतापूर्वक जारी है। इस क्रम में हस्तिनापुर, अयोध्या, कुण्डलपुर (नालंदा), राजगृही, सिंहपुरी (सारनाथ) में सुन्दर निर्माण एवं विकास के कार्य सम्पन्न हुए हैं, जिससे कि प्राचीन तीर्थभूमियाँ प्रकाश में आई हैं तथा उनका राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रचार-प्रसार हुआ है। इसी क्रम में वर्तमान में भगवान पुष्पदंतनाथ की जन्मभूमि काकंदी का भी निर्माण कार्य पूर्ण हो चुका है। आप भी अपने आसपास के क्षेत्र में स्थित तीर्थंकर जन्मभूमियों के विकास हेतु समाज में जागरुकता पैदा करें एवं संगठित होकर उन प्राचीन तीर्थभूमियों का जीर्णोद्धार करें। इस कार्य में हम सदैव आपके साथ हैं।

निवेदक - **अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थंकर जन्मभूमि विकास कमेटी**

अध्यक्ष - **कर्मयोगी ब्र.रवीन्द्र कुमार जैन, जम्बूद्वीप**

प्रधान कार्यालय - **जम्बूद्वीप-हस्तिनापुर (मेरठ) उ.प्र.**
फोन नं.-01233-280184, 292943